સર્વ-દર્શન સમન્વય

1

ॐ

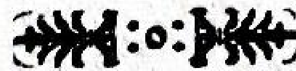
सर्व-दर्शन-समन्वय

प्रथम खण्ड—आत्मवादसमन्वय

द्वितीय खण्ड—जगतकारणवादसमन्वय

तृतीय खण्ड—साधनसाध्यवादसमन्वय

(बहुश्रुत तर्कप्रधान तटस्थ विद्वानों के लिए विचारणीय)



लेखक

शङ्करानन्द सरस्वती

परमार्थनिकेतन, पो० स्वर्गाश्रम २४९३०४

(ऋषिकेश) पौढ़ी-गढ़वाल

प्राप्ति-स्थान
परमार्थ निकेतन
पत्रालय—स्वर्गाश्रम (ऋषिकेश)
जनपद—पौढ़ी-गढ़वाल-२४९३०४

मूल्य—२५ रुपये

डाक से पुस्तक मँगानेवाले मूल्य के साथ
रजिस्ट्री-खर्च पहले ही भेजें।

मुद्रक
जीवन शिक्षा मुद्रणालय (प्रा०) लि०
गोलघर, वाराणसी-२२१००१

ॐ

द्वितीय संस्करण

'सर्व-दर्शन-समन्वय' ग्रन्थ संवत् २०३५ में प्रथम बार एक हजार प्रकाशित हुआ था। ९०० ग्रन्थों को विद्वानों के करकमलों में सादर-सप्रेम भेंट रूप में समर्पित कर दिया था।

जनता-जनार्दन में विद्यमान दर्शनों के विद्वान् भी खरीदकर ग्रन्थ का अध्ययन-मनन कर सकें, इस दृष्टि से इस बार ग्रन्थ का मूल्य रखा गया है।

ग्रन्थ मुद्रण कराने का कार्य श्री राधेश्यामजी खेमका तथा श्री काशीनाथजी मेहरोत्रा ने सहर्ष सेवाभाव से किया है। अक्षर-शुद्धि-निरीक्षक (प्रूफरीडर) श्री नरहरि पुरुषोत्तम रंगप्पा महोदय ने ग्रन्थ शुद्ध प्रकाशित हो, इसके लिये बहुत परिश्रम किया है। इसलिये ये तीनों महानुभाव धन्यवाद के पात्र हैं।

इस द्वितीय संस्करण में कुछ संशोधन और सम्वर्धन भी किया गया है।

—शङ्करानन्द सरस्वती



ॐ

भूमिका

सामयिक कथन

भौतिकविज्ञान के सिद्धान्त सर्वमान्य माने जाते हैं, इसका कारण यह है कि उन्हें प्रयोगशालाओं में प्रयोग करके दिखा दिया जाता है। इसलिए जनसाधारण ही नहीं, किन्तु दर्शनमर्मज्ञ विद्वान् भी उन्हें स्वीकार करते हैं। स्वीकार करना ही चाहिए, कारण कि सत्यान्वेषी पुरुष द्वारा सत्य को न स्वीकार करना आत्मघात-तुल्य माना जाता है।

दर्शनशास्त्रों के सिद्धान्त सभी को मान्य नहीं होते, इसका कारण यही है कि उन्हें प्रयोगशालाओं में प्रयोग करके दिखाया नहीं जा सकता, तथा भिन्न-भिन्न दर्शनाचार्यों में ही नहीं, किन्तु एक-एक दर्शन के आचार्यों में भी पूर्ण मतैक्य नहीं होता। इतना ही नहीं किन्तु अनेक ऐसे विषय हैं, जिन पर ३ और ६ की तरह सर्वथा विरुद्ध निर्णय दिये गये हैं। इन सब कारणों से जनसाधारण की ही नहीं, किन्तु दर्शनाचार्यों की बुद्धि में भी दर्शन-सिद्धान्तों के प्रति सन्देह या अश्रद्धा पैदा होती जाती है। यह स्थिति वर्तमान में बढ़ती ही जा रही है।

इस पर मेरा निवेदन यह है कि—दर्शनशास्त्रों ने आत्मा,

परमात्मा आदि जिन अतिसूक्ष्म, अभौतिक, अतीन्द्रिय तत्त्वों पर विचार किया है, उनकी तो बात ही क्या, जल-घट आदि अतिस्थूल, भौतिक, इन्द्रियगम्य पदार्थों के विषय में भी जिस स्तर पर जिस दृष्टिकोण से विचार किया है, उनका भी भौतिकविज्ञान की यान्त्रिक प्रयोगशाला में उस स्तर पर उस दृष्टिकोण से प्रयोग करके नहीं दिखाया जा सकता। इसका एकमात्र कारण यह है कि वे यान्त्रिक प्रयोगशाला के प्रयोगों के विषय ही नहीं। यदि भौतिकविज्ञानी भी उन पदार्थों का उस स्तर पर उस दृष्टिकोण से विचार करेंगे तो वे भी उन्हें यान्त्रिक प्रयोगशाला में प्रयोग करके कभी नहीं दिखा सकेंगे।

उदाहरण के लिए देखिये—'ऑक्सिजन और हाइड्रोजन को मिला देने से जल बन जाता है' इस सिद्धान्त को भौतिकविज्ञानी अपनी प्रयोगशाला में प्रयोग द्वारा प्रत्यक्ष दिखा सकते हैं। जब इसी जलतत्त्व पर यह विचार करते हैं कि जिन हाइड्रोजन और ऑक्सिजन को मिला देने से जल बन जाता है, उन दोनों में या किसी एक में जल उत्पन्न करने की शक्ति या योग्यता है या नहीं? अथवा जल का प्रागभाव है या नहीं? (इन्हीं दोनों को शास्त्र की भाषा में क्रमशः सत्कार्यवाद, असत्कार्यवाद कहते हैं।) इस स्तर पर इन दृष्टिकोणों से जब जलतत्त्व पर विचार किया जायगा, तब उसे यान्त्रिक प्रयोगशाला में प्रयोग द्वारा कोई वैज्ञानिक भी नहीं दिखा सकेगा। इसका एकमात्र कारण यही है कि शक्ति या योग्यता अथवा प्रागभाव कार्यानुमेय होने के

कारण बौद्धिक प्रयोगशाला में ही उन्हें देखा जा सकता है, यान्त्रिक प्रयोगशाला में उन्हें कभी भी नहीं देखा जा सकता। इतना ही नहीं किन्तु भौतिकविज्ञान के सिद्धान्त भी ९५ प्रतिशत बौद्धिक प्रयोगशाला से ही निर्णीत होते हैं। कारण यह है कि भौतिक यन्त्र इन्द्रियों के विषयों को ही विशद-अविशद, लघु-विशाल रूपों में दिखा सकते हैं, और इन्द्रियाँ अपने पाँच विषयों के स्वरूप मात्र को ही ग्रहण करती हैं। उन विषयों में स्थिरता, क्षणिकता, कार्य-कारणभाव, उत्पत्ति-विनाश, परिवर्तन आदि को तो बुद्धि ही ग्रहण करती है। इन्हींके आधार पर भौतिकविज्ञान के सिद्धान्त भी बनते हैं।

कहने का तात्पर्य यह है कि अतिस्थूल कार्यरूप भौतिक जल के बारे में जिस स्तर पर जिस दृष्टिकोण से विचार करके सिद्धान्तरूप में जो निर्णय दार्शनिकों ने दिये हैं, उस स्तर पर उस दृष्टिकोण से जब भौतिक विज्ञानी भी विचार करेंगे, तब अपने निर्णयरूप सिद्धान्तों को वे भी यान्त्रिक प्रयोगशाला में प्रयोग करके नहीं दिखा सकेंगे तथा विभिन्न दृष्टिकोणों से विचार करने पर एकमत भी न हो सकेंगे। ऐसी दशा में अतिसूक्ष्म जगतकारणभूत परमाणु, प्रकृति आदि को तथा अभौतिक अतीन्द्रिय आत्मा-परमात्मा के निर्णयरूप दार्शनिक सिद्धान्तों को यान्त्रिक प्रयोगशाला में प्रयोग द्वारा न दिखाया जा सके, तथा विभिन्न दृष्टिकोणों से विचार करने के कारण एकमत न हो सकें, तो इसमें सन्देह या अश्रद्धा होने का कोई समुचित

कारण प्रतीत नहीं होता। क्योंकि जो वस्तु जिस प्रमाण से देखने योग्य होती है, जब वह उसी प्रमाण से नहीं दीखती, तथा जिस स्तर पर जिस दृष्टिकोण से विचार करके जिस रूप में निर्णीत की गयी है, उसी स्तर पर उसी दृष्टिकोण से विचार करने पर उसी रूप में निर्णीत न हो, तभी सन्देह या अश्रद्धा का होना उचित माना जा सकता है। आत्मा-परमात्मा आदि अतीन्द्रिय पदार्थों की तो बात ही क्या, लोकदृष्टि से इन्द्रियगम्य माने जानेवाले सादृश्य, अभाव, जाति, समवाय आदि को स्वतन्त्र पदार्थ मानना चाहिए या नहीं, इनका भी निर्णय यान्त्रिक प्रयोगशाला में प्रयोग द्वारा कभी भी नहीं किया जा सकेगा।

विभिन्न रूपों में तथा परस्पर विरुद्ध रूपों में दार्शनिक सिद्धान्तों को पढ़-पढ़ाकर तटस्थ व्यक्ति के मन में सन्देह या अश्रद्धा का होना स्वाभाविक ही है। जब तत्-तत् दर्शनों का उनके दृष्टिकोण के साथ अपना दृष्टिकोण मिलाकर गम्भीरतापूर्वक अध्ययन, मनन तथा परिशीलन किया जाता है, तब तटस्थ विचारक को यह अतिस्पष्ट अनुभव होता है कि सभी दर्शन अनुभूतियों के तथा अनुभूतियों को अनुसरण करनेवाली युक्तियों के आधार पर ही सूक्ष्मातिसूक्ष्म गवेषणा करके स्व-स्व-सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हैं। इस प्रकार शुद्ध तटस्थ बौद्धिक प्रयोगशाला में ही सर्वदर्शनों के सिद्धान्तो को प्रत्यक्ष करने का प्रयास करनेवाले मनीषियों को दर्शन-सिद्धान्तों का अतिस्पष्ट, असन्दिग्धरूप में बौद्धिक प्रत्यक्ष

अवश्य होता है। ऐसी दशा में सन्देह या अश्रद्धा का मूलोच्छेद हो जाता है।

दर्शनशास्त्रों में प्रसङ्गतः यदि भौतिकविज्ञान के क्षेत्र के किसी पदार्थ पर अपना कुछ निर्णय दिया हो और वह निर्णय परिष्कृत भौतिकविज्ञान की प्रयोगशाला में किये गये प्रयोगों के विरुद्ध पड़ता हो तो उसे उसी रूप में सत्य कहने का तथा भौतिकविज्ञान के निर्णय को असत्य कहने का आग्रह सत्यान्वेषी पुरुष को नहीं करना चाहिए, अन्यथा यह आग्रह दर्शनशास्त्रों का महान् घातक होगा। वेदों को अकाट्य प्रमाण माननेवाले मीमांसक भी जब यह देखते हैं कि वेद ने प्रत्यक्षप्रमाण के क्षेत्र में 'आदित्यो वै यूपः' = 'यह यज्ञस्तम्भ सूर्य ही है' ऐसा जो कहा है, वह प्रत्यक्षप्रमाण से सर्वथा विरुद्ध है, तब ऐसे वेद-वाक्यों में मुख्यप्रमाणता का आग्रह न करके अर्थवाद आदि रूप में गौणप्रमाणता ही मानते हैं। इसका मुख्य कारण यही है कि ऐसे स्थलों में भी यदि वेद की प्रमाणता को मुख्य रूप में मानने का आग्रह किया जाय तो वह आग्रह वेदों की प्रमाणता का महान् घातक सिद्ध होगा।

इस प्रकार दर्शनशास्त्रों के तथा भौतिकविज्ञानशास्त्र के क्षेत्र का विभाजन करके उनको अपने-अपने क्षेत्र में प्रमाण मानना ही सत्यान्वेषी पुरुष के लिए उचित है, दुराग्रह करना उचित नहीं। ऐसा करने पर ही दर्शनशास्त्रों का तथा भौतिकविज्ञानशास्त्रों का संरक्षण हो सकेगा, तथा मनुष्य लौकिक और अलौकिक अभ्युदय के भागी हो सकेंगे। मेरा सविनय निवेदन इतना ही

है कि दर्शनशास्त्रों के सिद्धान्तों को उनकी वस्तुस्थिति पर दृष्टि रखकर उनके ही दृष्टिकोण से देखा जाय, तथा दर्शन-शास्त्रों के और भौतिकविज्ञानशास्त्र के क्षेत्र के विभाजन को ठीक-ठीक समझ लिया जाय, तो दर्शनशास्त्रों के सिद्धान्तों में सन्देह या अश्रद्धा हो ही नहीं सकती।

दर्शनशास्त्रों के परस्पर विरुद्ध-से प्रतीत होनेवाले निर्णयों को पढ़कर विद्वानों के हृदय में दर्शनशास्त्रों के सिद्धान्तों के प्रति असत्यता या अनादर का भाव उदित न हो, तथा भौतिकविज्ञानियों को हँसी उड़ाने का अवसर प्राप्त न हो, इसी उद्देश्य से दर्शन-शास्त्रों के परस्पर विरुद्ध-से प्रतीत होनेवाले निर्णयों में किस प्रकार समन्वय विद्यमान है, उसे प्रदर्शित करने के लिए ही मेरा यह लघु प्रयास है।

समन्वय-विचार का उदय

आज से २२ वर्ष पूर्व जब श्री सद्गुरुदेव (प्रातःस्मरणीय अनन्तश्रीविभूषित स्वामी अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज वृन्दावनवालों) के चरणारविन्दों का आश्रय प्राप्त हुआ था, तब मुझ पर विशेष अनुग्रह करके व्यक्तिगतरूप में दो घंटे का समय प्रतिदिन पूज्यपाद गुरुदेव ने मुझे प्रदान किया था। प्रथम तो मेरी श्रद्धा, रुचि तथा योग्यता का सम्यक् निदान करके तात्कालिक हृदयस्थ मेरी समस्त शङ्काओं का समूल निराकरण किया। तत्पश्चात् मेरी प्रार्थना सुनकर "बलदेव उपाध्याय कृत

'भारतीयदर्शन' नामक ग्रन्थ अवलोकन करो" यह आज्ञा प्रदान की। मैंने अपने सहज उतावले स्वभाव के अनुसार ८-१० दिन में ही उसे देख लिया। 'क्या ग्रहण किया?' ऐसा पूज्यपाद गुरुदेव के पूछने पर मैंने निवेदन किया, 'भगवन्! मुझे तो ऐसा प्रतीत हुआ कि सभी दर्शनों में एक ही बात अपने-अपने दृष्टिकोण से कही गयी है।' श्रीचरणों ने मेरा उत्साहवर्द्धन करने के लिए मेरे वचन का समर्थन करते हुए कहा—'नैयायिक आत्ममनः-संयोग से जिस ज्ञानगुण की उत्पत्ति मानते हैं, वृत्तिज्ञानरूप होने के कारण उस ज्ञान की उत्पत्ति में तो वेदान्तियों को भी कोई आपत्ति नहीं, खण्डन तो प्रायः दूसरों के शब्दों में अपनी परिभाषा लगाकर किया गया है।' श्री सद्गुरुदेव के इन वचनों ने मेरे हृदय में समन्वयदृष्टि का बीजाधान कर दिया।

शाङ्करवेदान्त में अधिक रुचि होने के कारण शाङ्करवेदान्त के इष्टसिद्धि, ब्रह्मसिद्धि, अद्वैतसिद्धि, खण्डनखण्डखाद्य, चित्सुखी, प्रस्थानत्रयी, भामती, पञ्चपादिका, विवरण, सिद्धान्तलेश आदि प्रबल तार्किक ग्रन्थों के अध्ययन, मनन और परिशीलन में ही ८-१० वर्ष व्यतीत हो गये। उक्त वेदान्त-ग्रन्थों में पूर्वपक्ष के रूप में उपस्थापित अन्य दर्शनों के युक्तिप्रधान सिद्धान्तो का अध्ययन करके 'उनके मूलग्रन्थों का अध्ययन करूँ'—ऐसा संकल्प उदित हुआ। इस तरह समन्वयदृष्टि का बीज अङ्कुरावस्था को प्राप्त हो गया।

वैशेषिकसूत्रभाष्य, न्यायसूत्रभाष्य, न्यायवार्तिक, तात्पर्य-

टीका, परिशुद्धि, आत्मतत्त्वविवेक, न्यायकुसुमाञ्जलि, न्यायमञ्जरी आदि न्याय-वैशेषिक के प्रौढ़ ग्रन्थों का टीकाओं-सहित अध्ययन किया। सांख्यकारिका, तत्त्वकौमुदी, तत्त्ववैशारदी, योगसूत्र-व्यासभाष्य आदि सांख्य-योग के प्रौढ़ ग्रन्थों का तथा शास्त्रदीपिका, जैमिनिसूत्रभाष्यवार्तिक, न्यायरत्नाकर आदि पूर्वमीमांसा के ग्रन्थों में दर्शनसम्बन्धित भाग का पठन किया। बौद्धदर्शन, तत्त्वसंग्रह-पञ्जिका आदि बौद्धग्रन्थों का तथा जैनदर्शन, प्रमेयकमलमार्तण्ड, न्यायकुमुदचन्द्र आदि जैनग्रन्थों का परिशीलन किया। एवं प्रस्थानत्रयी पर प्राप्त वैष्णवाचार्यों के सभी भाष्यों का तथा तत्त्वमुक्ताकलाप, अध्यासगिरिवज्र आदि वैष्णववेदान्त के प्रौढ़ ग्रन्थों का अध्ययन किया। इन ग्रन्थों का ८-१० वर्ष सारग्राही दृष्टि से अध्ययन और मनन करने पर सभी दर्शनों के सिद्धान्तों की सामान्य रूप-रेखा (पूर्वपक्ष-उत्तरपक्ष-सहित) युक्ति-प्रधानरूप में हृदयङ्गम हो गयी। मुमुक्षु-उपयोगी विवादास्पद विषयों का एक-एक करके पुनःपुनः सम्यक् परिशीलन करने पर समन्वयात्मक विचार मस्तिष्क में उदित होने लगे। इस प्रकार समन्वयदृष्टि की अङ्कुरावस्था पल्लवित-अवस्था में परिणत हो गयी।

इसी बीच साधु शान्तिनाथ कृत 'प्राच्यदर्शनसमीक्षा' नामक ग्रन्थ दृष्टिगोचर हुआ, उसमें असमन्वय प्रदर्शन करने के लिए सभी दर्शनों के केवल पूर्वपक्षों का ही संग्रह होने के कारण वह मुझे विशेष रुचिकर नहीं हुआ। तो भी सभी दर्शनों का पूर्वपक्ष एकत्र

युक्तिप्रधान सरल भाषा में उपलब्ध हो जाने से 'मेरा परिश्रम कम हुआ' इस गुणग्राही दृष्टि से उस ग्रन्थ से युक्तियों को अति संक्षेप में (१५-२० पृष्ठों में) संगृहीत कर लिया। उत्तरपक्षों का पुनःपुनः समन्वयात्मक दृष्टिकोण से अध्ययन, मनन तथा परिशीलन किया, स्वतन्त्र रीति से भी उन पर ऊहापोह किया। ऐसा करने पर जो समन्वयात्मक दृष्टि फलित हुई उसे भी उसी कापी में 'समन्वयवाद' के नाम से ग्रथित कर दिया।

कुछ काल पूर्व मेरे प्रिय मित्र संविदानन्दजी ने प्रसङ्गवश इसकी चर्चा पूज्यपाद गुरुदेव से कर दी। श्रीचरणों ने अति-उदारतापूर्वक मनोयोग से श्रवण करके यह आज्ञा प्रदान करी कि 'इसे विस्तृत करो'। मुमुक्षुओं के लिए अधिक उपयोगी समझकर आत्मा, जगत-उपादानकारण, जगत-निमित्तकारण, साधन, साध्य—इन पाँच विषयों में ही समन्वय प्रदर्शन करने का प्रयास इस ग्रन्थ में किया गया है। इनमें भी आत्मतत्त्व स्वर्गादि की तरह परोक्ष वस्तु नहीं, किन्तु स्वस्वरूप होने के कारण इस पर किये गये विचारों को स्वानुभूति से परीक्षित भी किया जा सकेगा, इस दृष्टि से प्रथम आत्मतत्त्व का ही विचार किया है।

इधर जब-जब श्रीचरणों के दर्शनार्थ गया, तब-तब गुरुदेव को संस्कारों की प्रबलता तथा सम्मुख उपस्थित जिज्ञासुओं की श्रद्धा, रुचि, योग्यता आदि कारणों से प्रायः वेदान्त-प्रक्रियानुसार ही तत्त्व का प्रतिपादन करते देखा, फिर भी किसी दर्शन की प्रक्रियाविशेष में आग्रह नहीं देखा। 'सभी दर्शन तत्त्वबोध के मार्ग हैं, पूर्ण हैं

तो सभी पूर्ण हैं, अपूर्ण हैं तो सभी अपूर्ण हैं' समन्वयदृष्टि का यह उदार उद्गार उनके मुखारविन्द से बारम्बार श्रवणगोचर होता, तथा व्यवहार में भी देखने को मिलता। प्रतिवाद-रसास्वादक स्वभाव के कारण मैं उनका दास होकर भी भरी सभा में सहज कर्णकर्कश तीक्ष्ण वाणी से उनके वाद का प्रतिवाद कर देता तो भी हृदय से उद्विग्न होने की तो बात दूर रही, वे प्रसन्नमुखमुद्रा-पूर्वक हास्ययुक्त वाणी से कह देते कि–'ठीक है, ऐसा ही स्वीकार कर लो।' ऐसा व्यवहार समन्वय में पूर्ण निष्ठा के बिना सम्भव ही नहीं। पूज्यपाद के उक्त व्यवहार से मैं बाह्यरूप में लज्जित, अन्तर्हृदय से श्रीचरणों में नमित तथा अन्यत्र अदृष्ट अश्रुत महती सहनशीलता को देखकर चकित-चकित हो जाता।

अतः श्रीचरणों द्वारा प्रत्यक्षरूप में वपित, कमठ-अण्ड-उपमित अहेतुकी अप्रत्यक्ष कृपा द्वारा अङ्कुरित तथा पल्लवित, प्रथम बुद्धि में पश्चात् लेखरूप में फलित इस समन्वय-ग्रन्थरूप फल को सादर सविनय उन्हीं श्रीचरणों में काम-क्रोधादि दोषों से रहित भगवद्भक्ति की प्राप्ति के लिए समर्पित करता हूँ।

इस ग्रन्थ में जैन-बौद्धदर्शनों के साथ भी समन्वय प्रदर्शन करना अभीष्ट होने के कारण युक्तियों को प्रधानता देकर ही प्रायः विचार किया गया है, श्रुतियों को नहीं। यह बात ध्यान में रखकर ही ग्रन्थ का अध्ययन करना चाहिए। प्रयोजनवश कुछ युक्तियों की बुद्धिपूर्वक पुनरुक्ति भी की गयी है। प्रतिवादियों का खण्डन वादियों द्वारा स्वमत तथा परमत की युक्तियों को भी लेकर किया गया है।

यह समन्वय मेरे ही मस्तिष्क की सर्वथा नूतन उपज हो ऐसा मानना ठीक नहीं, प्राचीन ग्रन्थों में एतादृश समन्वय को कथन करनेवाले ऋषियों के भी अतिस्पष्ट वचन मिलते हैं, उन ऋषि-वचनों को तत्-तत् प्रकरणों में प्रसङ्गानुसार उद्धृत कर दिया है। अधिक-से-अधिक इतना ही कहा जा सकता है कि युक्तिप्रधान दृष्टि से सभी दर्शनों का एतादृश समन्वय प्रदर्शन करनेवाला ग्रन्थ अद्यावधि मेरी दृष्टि में नहीं आया। यदि इस समन्वयात्मक सामान्य लघु ग्रन्थ के अध्ययन, मनन और परिशीलन से विशिष्ट विद्वानों के हृदय में ख्यातिवाद, प्रमाणवाद आदि विवादास्पद विषयों पर समन्वयात्मक विशिष्ट विशाल ग्रन्थ निर्माण करने की प्रेरणा का उदय हुआ तो मैं अपने प्रयास को सफल मानूंगा। परस्पर एक-दूसरे का खण्डन करनेवाले ग्रन्थ तो सभी दर्शनों में बहुत उपलब्ध हैं, इस समय तो समन्वयात्मक ग्रन्थों की आवश्यकता है, जिसकी पूर्ति तो निष्पक्ष तटस्थ उदारचेता सर्वदर्शनमर्मज्ञ विशिष्ट विद्वानों द्वारा ही हो सकती है।

प्रसन्नचेता श्री स्वामी निगमानन्दजी ने इस ग्रन्थ को मनोयोग से देखा, मेरी प्रार्थना के बिना स्वयं ही प्रतिदिन ४-५ घंटे भीषण गर्मी में भी परिश्रम करके भाषा का परिमार्जन किया, इसके लिए मैं हृदय से उनका आभारी हूँ। इतना होने पर भी यदि उदारचेता दानदाता महानुभावों ने उदारतापूर्वक आर्थिक सहायता न दी होती तो यह ग्रन्थ ५ वर्ष तक जैसे लिखा पड़ा रहा वैसे अब भी पड़ा ही रहता। मैं अपनी अकिञ्चनता के कारण जनता के सम्मुख इस ग्रन्थ को कभी भी उपस्थित न कर पाता।

दर्शनमर्मज्ञ विद्वानों से करबद्ध प्रार्थना है कि इस ग्रन्थ की त्रुटियों को लिखकर मेरे पास भेजने की कृपा करें, जिससे मैं अपने विचारों का परिमार्जन कर सकूं। जिन विषयों की मैंने अगत्या या परिशेषन्यायरूप युक्ति से ही सिद्धि की है, उन्हें यदि अन्य प्रकार से भी सिद्ध किया जा सकता हो तो उसे युक्तिसहित अवश्य लिखने की कृपा करें। क्योंकि अन्तिमस्थलों में अगत्या या परिशेष-न्यायरूप युक्ति को सभी दर्शनों में सामान्यरूप से देखकर उसीको मुख्य आधार बनाकर मैंने सभी दर्शनों का समन्वय किया है। विचार-परिमार्जन को दृष्टि में रखकर ही विद्वानों के सम्मुख ग्रन्थ रख रहा हूँ। अतः त्रुटियों का दिग्दर्शन कराने की कृपा अवश्य करें, करबद्ध सविनय पुनःपुनः यह प्रार्थना करता हूँ।

प्रथम संस्करण का अध्ययन करके विद्वानों ने कुछ त्रुटियाँ प्रदर्शित की थीं, उनका यथासम्भव संशोधन कर दिया गया है। इस ग्रन्थ में युक्तियों को ही प्रधानता देकर समन्वय किया गया है। उसे बल प्रदान करने के लिए ही शब्दार्थ के आधार पर कुछ शास्त्र-वचन भी दिये हैं। यदि किसीको उन वचनों का भावार्थ वैसा न प्रतीत होता हो तो वे उन शास्त्रवचनों की उपेक्षा करके युक्तियों पर ही विशेष ध्यान दें।

परमार्थनिकेतन, स्वर्गाश्रम (पौढ़ी-गढ़वाल)
[मार्ग-ऋषिकेश] २४९३०४
श्रीरामनवमी, संवत् २०३५

लेखक
शङ्करानन्द सरस्वती

पूज्यपाद सद्गुरुदेव, दर्शनों के मूर्धन्य विद्वान्
अनन्तश्रीविभूषित श्रीस्वामी
अखण्डानन्दसरस्वतीजी
महाराज की

शुभाशंसा

प्रत्येक मनुष्य की रति, मति एवं गति परस्पर विलक्षण होती है। वासना, पूर्वप्रज्ञा और कर्म के अनुसार उनका निर्माण होता है। देश-काल-समाज तथा भोग का भी कुछ प्रभाव पड़ता है। जैसे आकृतियाँ पृथक्-पृथक् होती हैं, वैसे बुद्धियाँ भी पृथक्-पृथक् ही होती हैं। मति जिस विषय का निश्चय करती है उस पर अपना रङ्ग डालती है, और कुछ उस विषय का रङ्ग अपने में भी ले लेती है। मति का कर्म ही मत है। मति की भिन्नता के कारण मत भी भिन्न-भिन्न होते हैं।

लब्ध-समाधि और साक्षात्कृत-भगवत्तत्त्व महापुरुषों की रति, मति एवं गति भी एक-दूसरे से विलक्षण होती हैं, इसीलिए दो आचार्यों के मत भी पूर्णरूप से मेल नहीं खाते। एक आचार्य के अनुयायियों में भी प्रस्थान-भेद हो जाता है। परन्तु जो वस्तु मति का विषय या कर्म नहीं, उसमें मतभेद का स्पर्श नहीं होता। सभी शास्त्रों के और आचार्यों के अवान्तर तात्पर्य में ही भेद होता है, परन्तु परमतात्पर्य में भेद नहीं होता। निरूपण की प्रक्रिया हो

पृथक्-पृथक् होती है, तत्त्व-वस्तु पृथक्-पृथक् नहीं होती। उस परमवस्तु के स्वरूप-निरूपण में ही नहीं किन्तु नाम में भी सर्वसम्मति एक नहीं होती। कोई-कोई उसे तत्त्व कहना भी पसन्द नहीं करते। ऐसी स्थिति में परमार्थ को अमत कहना उचित ही है जैसा कि उपनिषदें कहती हैं।

कर्म-फल में तारतम्य स्वीकार है, अतः वह अमत नहीं हो सकता। अमत निर्विवाद और अविरोध होता है, उसमें द्वैत और पारोक्ष्य की कल्पना का अवसर है ही नहीं। आत्मा से वह भिन्न हो तो साक्षात् अपरोक्ष उसका कभी नहीं होगा, उससे आत्मा भिन्न हो तो अद्वितीयता की सिद्धि नहीं होगी। अतः अज्ञान-निवर्तक ज्ञान ही एकमात्र शरण है। अज्ञान का नाम चाहे कुछ भी रख लो। प्रमाद, अविद्या, मिथ्याज्ञान, अविवेक, भ्रान्ति, विस्मृति, वैमुख्य यह सब एक ही तराजू के चट्टे-बट्टे हैं। इनकी निवृत्ति होनी ही चाहिए।

मति के अनुसार मत, युक्ति के अनुसार प्रक्रिया, अधिकारी के अनुसार साधना और प्रमेय के अनुसार प्रमाण होता है। जो अपने प्रमेय के साक्षात्कार का करण है, वही प्रमाण है। जो अपने प्रमेय के साक्षात्कार में समर्थ नहीं, वह प्रमाणाभास है। इसीलिए प्रमाण के साथ-साथ लक्षण-ज्ञान भी अभीष्ट होता है। परोक्ष स्वर्ग और अपरोक्ष किन्तु अज्ञात आत्मस्वरूप वाक्य द्वारा लक्षण-ज्ञान की अपेक्षा रखते हैं। एक में श्रद्धा प्रधान है और दूसरे में अनुभव

प्रधान है। अनुभव पर्यवसायी न होने पर प्रमाण और प्रमेय का निर्धारण ही व्यर्थ हो जाता है। उनकी यथार्थता अनुभव की कसोटी पर ही सिद्ध होती है।

हमारे शङ्करानन्द सरस्वती ने दीर्घकाल तक स्वाध्याय, परिश्रम, अभ्यास, अनुसन्धान और समीक्षण-परीक्षण करके जो निष्कर्ष निकाले हैं, वे विद्वानों के सम्मुख प्रस्तुत हैं। हमारा विश्वास है कि प्रज्ञावान् पुरुष इन पर विचार करेंगे और अधिक गवेषणा की ओर प्रोत्साहित करेंगे। इनकी श्रुति, मति, और ख्याति निरन्तर सूक्ष्मता की ओर अग्रसर हो—यही मेरी शुभाशंसा है।

विपुल २८। १६, मलाबारहिल, बम्बई
५-१०-१९७७ ई०

अखण्डानन्द सरस्वती

परम प्रिय स्वामी श्रीशङ्करानन्दजी की 'सर्व-दर्शन-समन्वय' पुस्तक की पाण्डुलिपि मैंने देखी। स्वामीजी गम्भीर विचारक और सच्चे तत्त्वान्वेषी हैं। उन्होंने निष्पक्ष दृष्टि से आचार्यों के आत्म-वाद, जगत-कारणवाद और साधन-साध्यवादों की मीमांसा करके एक समन्वित विचार प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। आशा है कि इससे जिज्ञासुजनों को स्वयं विचार करने में अच्छा सहयोग मिलेगा।

कसौली, १४-८-१९७७

सनातनदेव

(औपनिषद-शाङ्करभाष्य आदि अनेक ग्रन्थों के हिन्दी-अनुवादक)

विद्वानों की सम्मतियाँ

(१)

धर्म एवं अध्यात्मपरायण भारतीयों की विचारधारा दो प्रकार की रही है। इनमें वेद को प्रमाण मानकर सत्यान्वेषण करनेवालों को आस्तिक तथा वेद को प्रमाण माने बिना ही सत्यान्वेषण करने-वालों को नास्तिक कहा है। इन दोनों की विचारधारा को दर्शन कहा गया है, जो छः-छः प्रकार के चिन्तनों में विभक्त हैं। सभी को मिलाकर 'द्वादश भारतीय दर्शन' कहते हैं। सभी दर्शनों में तर्क, युक्ति, प्रमाणों द्वारा स्वपक्ष का मण्डन एवं परपक्ष का खण्डन देखा जाता है। यह परम्परा अद्यावधि दार्शनिक जगत में देखी जाती है। इससे एक ओर जहाँ भारतीय दर्शनों में गाम्भीर्य आया है, वहाँ दूसरी ओर सभी दर्शनों में गुण-दोष देखने को अच्छा अवसर भी प्राप्त हुआ है।

कुछ समन्वयवादी परवर्ती चिन्तकों ने सभी भारतीय दर्शनों में समन्वय लाने का स्तुत्य प्रयास किया है, जिनमें हमारे प्रिय श्रीमत् स्वामी शङ्करानन्द सरस्वतीजी का प्रयास अत्यधिक श्लाघनीय है। प्रस्तुत निबन्ध के विषयों पर श्रीस्वामीजी ने हमारे साथ साक्षात् भी विचार किया है, तथा इनके निबन्ध को हमने पूर्ण मनोयोग से आद्योपान्त देखा भी है। प्रत्येक पक्ष में अन्तिम स्थलों में बुद्धि की अगम्यता के कारण शिथिलता, अतएव तार्किक दृष्टि से अपरिहार्य न्यूनता, परिशेषन्यायरूप युक्ति से स्वपक्षसिद्धि की समानता और वस्तुस्थिति की अविरोधिता ही समन्वय पक्ष के साधक आधाररूप तर्क इस ग्रन्थ में प्रतीत होते हैं।

उक्त तर्कों से किसी-किसी अपरिपक्वबुद्धिवाले प्रारम्भिक जिज्ञासु को सभी दर्शनों में अश्रद्धा भी उत्पन्न हो सकती है। इन्द्रियातीत वस्तु को जानने के लिए प्रारम्भ में किसी-न-किसी पक्ष में श्रद्धा का होना अनिवार्य है। श्रद्धा के बिना किसी भी दर्शन में दृढ़ता से प्रवृत्ति नहीं हो सकती, इसलिए सभी दार्शनिकों ने स्वपक्ष में जिज्ञासुओं की श्रद्धा को दृढ़ करने के लिए स्वपक्ष का मण्डन एवं परपक्ष का खण्डन किया है। साधना की दृष्टि से साधकों के लिए यह अत्यावश्यक भी है। अतः दर्शनशास्त्र को आचार्य-परम्परा से अध्ययन करके ही उसके प्रतिपाद्य तत्त्व की प्राप्ति के लिए साधन-पद्धति का अनुसरण करना साधकों के लिए अनिवार्य है।

ग्रन्थ-लेखक ने दर्शनशास्त्रों के मध्यगत चिरकालीन खाई को पाटने का प्रयत्न किया है। इनकी समन्वयदृष्टि में कहीं भी पक्ष-पात दृष्टिगोचर नहीं होता। एक ही अतीन्द्रिय वस्तु को विभिन्न प्रकार से दार्शनिकों ने देखा है। स्वपक्ष का मण्डन तथा परपक्ष का खण्डन दार्शनिकों ने राग-द्वेष के कारण नहीं किया तो भी वस्तुतत्त्व को परस्पर विरुद्ध प्रक्रियाओं से देखने के कारण वैसा प्रतीत होता है। आशा करता हूँ कि पाठकगण ग्रन्थकार की उक्त दृष्टि को समझकर ही ग्रन्थ को पढ़ने का प्रयास करेंगे।

विद्यानन्दगिरि

९-११-१९७७ ई०

सर्वदर्शनाचार्य, महामण्डलेश्वर,

कैलासाश्रम-पीठाधीश्वर

(२)

तपोनिष्ठेन विदुषां-वरिष्ठेन शुद्धाचारविचारैर्लोकपथमवता प्रतिभावता शमदमादिसाधनवता श्रीशङ्करानन्देन शङ्करानन्देन स्वामिवरेण श्रमक्रमाभ्यां परस्परविरोधभावं भजतां दार्शनिक-सिद्धान्तानां विरोधाभासं समूलमुन्मूलयता बहूपाकारि। अहं अन्योन्यसमन्वयसाधनपरमिदं 'सर्वदर्शनसमन्वय'-ग्रन्थरत्नं आमूल-चूलं पर्यवेक्षिषि। कुत्रापि स्खलद्गतित्वं पतत्प्रकर्षत्वञ्च नाव-लोकिषि। सर्वत्र समन्वयसाधनप्रणाली समूला मनोहरा च वर्तते।

ईदृशानां प्रतिभासम्पन्नानां विरलानामेव विरक्तानां एतादृश-स्वानुभूति-प्रकाशात्मकप्रबन्धेन लोकविरोधापनोदाय प्रयासो दृग्गोचरीभवति। बहूनान्तु सिद्धान्तेषु विरोधोद्भावनमुखेन आत्मनो वैदुष्यस्य चिख्यापयिषया विरोधसम्भारानुबन्धिलेख-प्रवृत्तिर्नविदाता।

यद्यपि 'भगवति भवे सन्देह एव कुतः, किं निरूपणीयम्' इत्यादिश्रीमदुदयनाचार्योक्तिदिशा धर्मिणि सन्देहाभावः सर्वमत-सिद्धः, प्रकारभेदस्तु आरोपेणापि तदुपायत्वं निर्वहति, तथापि यावच्छक्ति सर्वत्र विरोधाभासो न प्रतीयेतेति धिया प्रवृत्ति-मेतामभिनन्दामि। तपःस्वाध्यायनिरतानामेषां मनःप्रसादेन समं ग्रन्थस्यास्य प्रचारं कामयते।

पटना सिटी, विजयादशमी २०३४

ब्रह्मदत्त द्विवेदी

(महामहोपाध्यायहरिहरकृपालुसुपुत्रः)

क्लिष्ट शब्दों का अर्थ

अभिज्ञा=किसी वस्तु का सर्वप्रथम होनेवाला ज्ञान। जैसे 'यह घट है' 'मैं हूँ'।

प्रत्यभिज्ञा=प्रथम ज्ञात वस्तु का ही पुनः ज्ञान होना। जैसे 'यह वही घट है' 'मैं वही हूँ'।

स्वलक्षण=उस लक्षण से उसी एक वस्तु का युक्त होना, अर्थात् सभी वस्तुओं का प्रत्येक क्षण में भिन्न-भिन्न होना।

अन्वय=अनेक घट-सकोरा आदि पदार्थों में एक मिट्टी का रहना अन्वय है। इसीको अनुगत अनुस्यूत शब्दों से भी कहते हैं।

व्यतिरेक=एक का दूसरे में न रहना। जैसे घट सकोरा में नहीं, सकोरा घट में नहीं। इसीको अननुगत भी कहते हैं।

सान्वयपरिवर्तन=घट-सकोरा आदि में अन्वित मिट्टी का नाना आकारों में परिवर्तन होना।

निरन्वयपरिवर्तन=नाना आकारों का किसी अन्वित पदार्थ के बिना परिवर्तन होना। जैसे चलचित्र (सिनेमा) के चित्रों का।

अवयव=अंश या अङ्ग। जैसे तन्तु पट के और हाथ-पैर शरीर के अवयव हैं।

निरवयव=जिसमें अंश या अङ्ग या टुकड़े न हों। जैसे परमाणु।

सावयव=जिसमें अंश या अङ्ग या टुकड़े हों। जैसे घट, शरीर आदि।

अनुयोगी = भेद, अभाव, सम्बन्ध, सादृश्य जिसमें रहते हों।

प्रतियोगी = जिसका भेद, अभाव, सम्बन्ध, सादृश्य हो। जैसे 'भूतल में घट का अभाव है' इस वाक्य में भूतल अनुयोगी है और घट प्रतियोगी है।

समवाय सम्बन्ध = कारण में कार्य, गुणी में गुण, व्यक्ति में जाति और अवयवों में अवयवी जिस सम्बन्ध से रहता है, जिसके कारण गुणी से गुण आदि की पृथक् उपलब्धि नहीं होती उस सम्बन्ध को समवाय सम्बन्ध कहते हैं।

उपपत्ति = युक्तियुक्त उपपादन (प्रतिपादन) होना।

अनुपपत्ति = युक्तियुक्त उपपादन न होना।

अन्यथाऽनुपपत्ति = अन्य प्रकार से युक्तियुक्त उपपादन न होना।

उपलब्धि = प्राप्त होना, ज्ञात होना।

अनुपलब्धि = प्राप्त न होना, ज्ञात न होना।

व्यवसायज्ञान = घटादि पदार्थों का 'यह घट है' इस रूप में ज्ञान।

अनुव्यवसायज्ञान = घटादि पदार्थों के ज्ञान का ज्ञान। जैसे 'मैं घट-ज्ञानवाला हूँ'।

योग्य अनुपलब्धि = सकल साधनों के होने पर भी प्राप्त या ज्ञात होने योग्य वस्तु का प्राप्त या ज्ञात न होना। जैसे शुद्ध नेत्र-वाले पुरुष को खुले मैदान में प्रकाश होने पर भी घट का प्राप्त या ज्ञात न होना।

अयोग्य अनुपलब्धि=उक्त घट का अन्धकार में प्राप्त या ज्ञात न होना अथवा नेत्रप्रत्यक्ष-अयोग्य प्रेत आदि का प्रत्यक्ष ज्ञान न होना।

व्यवधान=देश, काल एवं पदार्थ की रुकावट।

अव्यवधान=देश, काल एवं पदार्थ की रुकावट का अभाव।

व्यवहित=देश, काल एवं पदार्थ की रुकावटरूप व्यवधान से युक्त होना।

अव्यवहित=देश, काल एवं पदार्थ की रुकावट के अभावरूप अव्यवधान से युक्त होना।

आपाततः=ऊपर-ऊपर की दृष्टि से।

व्यासज्यवृत्ति=अपने सभी आधारों में व्याप्त होकर रहना; जैसे १० संख्या का अपने आधाररूप सभी घटों में रहना।

अव्यासज्यवृत्ति=अपने सभी आधारों में व्याप्त होकर न रहना; जैसे हाथ का संयोग अपने आधार दण्ड में एक जगह ही होता है, दण्डरूप आधार में सभी जगह नहीं होता।

कर्तृकर्मविरोध=जो कर्ता हो वही उस क्रिया का कर्म हो, जो ज्ञाता हो वही उस ज्ञान का स्वयं ज्ञेय हो, ऐसा सम्भव नहीं। इसीको कर्तृकर्मविरोध कहते हैं।

परिणाम=अवस्थान्तर को प्राप्त होना। जैसे दूध से दही।

परिमाण=वस्तु की लम्बाई-चौड़ाई, वजन आदि।

समनस्क=मनसहित।

अमनस्क=मनरहित।

ऐहिक=इस लोक के।

आमुष्मिक=परलोक के।

आनुषङ्गिक=मुख्यफल-प्राप्ति के साथ अमुख्यफल का प्राप्त होना। जैसे आम्रफल के लिए लगाये गये आम्रवृक्ष से छाया का प्राप्त होना।

बाध=मिथ्यात्व का निश्चय होना।

अबाध=मिथ्यात्व का निश्चय न होना।

परिशेषन्याय=अन्य वादियों के सिद्धान्तों का खण्डन कर दिये जाने पर परिशेष=बचे हुए अपने सिद्धान्त का स्वतः सिद्ध हो जाना।

—

विषय-सूची

प्रथम खण्ड

द्वितीय खण्ड

तृतीय खण्ड

ॐ

श्री गणेशाय नमः

सर्व-दर्शन-समन्वय

प्रथम खण्ड

मंगलाचरणम्

अखण्डानन्दबोधाय शिष्यसन्तापहारिणे ।
सच्चिदानन्दरूपाय रामाय गुरवे नमः ॥

योऽन्तः प्रविश्य मम वाचमिमां प्रसुप्तां
संजीवयत्यखिलशक्तिधरः स्वधाम्ना ।
अन्यांश्च हस्तचरणश्रवणत्वगादीन्
प्राणान्नमो भगवते पुरुषाय तुभ्यम् ॥

नान्या स्पृहा रघुपते ! हृदयेऽस्मदीये
सत्यं वदामि च भवानखिलान्तरात्मा ।

भक्तिं प्रयच्छ रघुपुङ्गव ! निर्भरां मे
кामादि-दोषरहितं कुरु मानसं च ॥

स एष आत्माऽऽत्मवतामधीश्वर-
स्त्रयीमयो धर्ममयस्तपोमयः ।
गतव्यलीकैरजशङ्करादिभि-
वितर्क्यलिङ्गो भगवान् प्रसीदताम् ॥

केचित् कर्म वदन्त्येनं स्वभावमपरे नृप !
एके कालं परे दैवं पुंसः काममुतापरे ॥

यं शैवाः समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनो
बौद्धा बुद्ध इति प्रमाणपटवः कर्तेति नैयायिकाः ।
अर्हन्नित्यथ जैनशासनरताः कर्मेति मीमांसकाः
सोऽयं नो विदधातु वाञ्छितफलं त्रैलोक्यनाथो हरिः ॥



आत्मवाद

उपक्रम

जाग्रत्-स्वप्नरूप समनस्क अवस्था में, 'मैं हूँ' इस प्रकार वर्तमान काल में, एवं 'जो मैं बाल्यावस्था में था वही मैं अब वृद्धावस्था में हूँ' इस प्रकार अनुभूत भूत काल में अपनी आत्मसत्ता का सब को अतिस्पष्ट असन्दिग्ध रूप में अनुभव होता है। किसी-किसी विशेष व्यक्ति को तो ऐसा भी अनुभव हो जाता है कि 'जो मैं पूर्व जन्म में था वही मैं इस जन्म में हूँ'। इन अतिस्पष्ट असन्दिग्ध अनुभवों से अपनी आत्मसत्ता में सन्देह न होने पर भी ये सन्देह होते हैं कि यह आत्मसत्ता भूतों का संघातविशेष है ? या भूतों के संघात से भिन्न कोई स्वतन्त्र तत्त्व है ?। एवं 'मैं वही हूँ' यह प्रत्यभिज्ञा भी बाल्यावस्था तथा वृद्धावस्था में अनुस्यूत किसी स्थिर-आत्मतत्त्व-मूलक है ? अथवा 'यह वही दीपशिखा है' इस प्रत्यभिज्ञा की भाँति सादृश्य-मूलक है ? इस प्रकार आत्मा की सत्ता में नाना-विध सन्देह होते हैं।

एवं स्व का तथा अन्य का अतिस्पष्ट असन्दिग्ध अनुभव होने के कारण 'मैं चेतन हूँ' इसमें किसी को किञ्चिद् भी सन्देह नहीं होता, तो भी क्या यह चेतनता आत्मा के नित्यज्ञानरूप होने के कारण है ? या आत्मा के नित्यज्ञानगुणयोगी होने के कारण है ? अथवा अभूतरूप तत्त्वों से जन्य ज्ञानगुणयोगी होने

के कारण है ? या भूतरूप तत्त्वों से जन्य है ? इस प्रकार आत्मा की चेतनतारूप चिन्ता में भी नाना-विध सन्देह होते हैं।

एव अपने लिए सब का परित्याग कर देना भी सब के अनुभव से सिद्ध होने के कारण अपनी आत्मा में परम प्रेमास्पदता भी सब को निर्विरोध रूप से मान्य है, तो भी यह परम प्रेमास्पदता आत्मा के आनन्दरूप होने के कारण है ? अथवा आत्मा के नित्य या अनित्य आनन्दगुण से युक्त होने के कारण है ? इस प्रकार आत्मा की परमप्रेमास्पदतारूप आनन्दता में भी नाना-विध सन्देह होते हैं।

यदि इस जन्म की या जन्मान्तर की 'मैं वही हूँ' इस प्रत्यभिज्ञा से कोई स्थिर तत्त्व सिद्ध हो जाता है तथा प्राणियों की सुख-दुःख, बुद्धिमत्ता-बुद्धिहीनता, रुग्णता-अरुग्णता आदि विचित्रताओं की अन्यथा अनुपपत्ति के कारण शरीर आदि अस्थिर पदार्थों से पृथक् उक्त प्रत्यभिज्ञा से सिद्ध स्थिरतत्त्व आत्मरूप प्रमाणित भी हो जाता है, तो भी वह आत्मतत्त्व विभु है या अणु है ? अथवा शरीर के अनुसार वृद्धि-ह्रास को प्राप्त होनेवाला मध्यम परिमाण है ? इस प्रकार आत्मतत्त्व के परिमाण के विषय में भी नाना-विध सन्देह होते हैं।

एवं जाग्रत्-स्वप्नरूप समनस्क अवस्था में अतिस्पष्ट असन्दिग्ध रूप से सब को अपने में अनुभूत होनेवाला क्रिया का कर्तापन तथा सुख-दुःख का भोक्तापन स्वाभाविक है ? या औपाधिक है ?

तथा समाधि-मूर्च्छा-सुषुप्तिरूप अमनस्क अवस्था में अनुभूत होने-वाला अकर्तृत्व, अभोक्तृत्व स्वाभाविक है ? या अन्तःकरण आदि उपकरण-अभाव-मूलक है ? इस प्रकार आत्मा के कर्तृत्व, भोक्तृत्व, अकर्तृत्व, अभोक्तृत्व के बारे में भी सन्देह होते हैं।

ऊपर कथित सन्देहों का निराकरण इन्द्रिय-जन्य प्रत्यक्ष अनुभव द्वारा न किया जा सकने के कारण सभी दर्शनकारों ने जाग्रत्-स्वप्नरूप समनस्क अवस्था में होनेवाली अतिस्पष्ट असन्दिग्ध सर्वमान्य अनुभूतियों का तथा समाधि-मूर्च्छा-सुषुप्तिरूप अमनस्क अवस्था में होनेवाली अस्पष्ट या अनुमित अनुभूतियों का विश्लेषण करके अन्यथा अनुपपत्ति से, युक्तियों से, दृष्टान्तों से, स्व-स्व-अभिमत शास्त्र (शब्द) प्रमाणों से उक्त सन्देहों का निराकरण करने का प्रयास किया है। परन्तु पिण्ड तथा ब्रह्माण्ड की अचिन्त्य रचना के कारण सभी को स्व-स्व-पक्ष-साधक अनुभूति, युक्ति, दृष्टान्त तथा स्वमान्य शास्त्रप्रमाण भी उपलब्ध हो जाते हैं। सभी पक्ष अन्तिम स्थलों में परिशेषन्याय से स्व-स्व-पक्ष की पुष्टि भी कर लेते हैं। अतिस्पष्ट असन्दिग्ध सर्वमान्य अनुभूतियों का भिन्न-भिन्न स्व-स्व प्रक्रियाओं से विश्लेषण करते हुए वे दर्शनकार किस प्रकार परस्पर विरोधी-से प्रतीत होनेवाले निर्णय देते हैं, उन विरोधी निर्णयों में भी किस प्रकार समन्वय विद्यमान है यह बात प्रदर्शित करने के लिए ही हमारा यह लघु प्रयास है।

विचार की स्वाभाविकता तथा आवश्यकता

भारतीय-अभारतीय, वैदिक-अवैदिक, आस्तिक-नास्तिक सभी

मनुष्यों में बहुत कुछ जानने की इच्छा स्वभाव से ही रहती है, ऐसा सब का अनुभव है। इस ज्ञान का उपयोग अन्ततोगत्वा दुःख की विमुक्ति (मोक्ष) में ही होता है, क्योंकि मनुष्य में ही नहीं किन्तु चराचरप्राणियों में भी दुःख से विमुक्ति (मोक्ष) की स्वाभाविक अभिलाषा रहती है, ऐसा भी सब के अनुभव से सिद्ध है। इसलिए मोक्षरूप साध्य की प्राप्ति के साधनों को जानने की जिज्ञासा भी सभी को होती है। किन्तु साधनकर्ता जीव को, साधनरूप शरीर-इन्द्रिय-अन्तःकरणरूप जगत् को और जगत् के उपादान-कारण को, साधन-फलदाता जगत्-निर्माता निमित्त-कारण (कर्म या ईश्वर) को सम्यक् जाने बिना साधक साधन द्वारा साध्य की प्राप्ति नहीं कर सकता। यही कारण है कि सभी दर्शनकार जीव-जगत्-ईश्वर के स्वरूपों पर गंभीरता से विचार करते हैं। इनमें से ईश्वर परोक्ष है, जगत् प्रत्यक्ष है, तो भी देश, काल एवं वस्तु की दृष्टि से भी इन्द्रिय-प्रत्यक्ष से जगत् का पार पाना सर्वथा असंभव है।

इस अनादि अनन्त प्रपञ्च प्रवाह को प्रत्यक्ष जानने के लिए मनुष्य के पास पांच इन्द्रियां ही साधन हैं। ये साधन भी अत्यन्त अल्प तथा अधूरे ही हैं, क्योंकि इन्द्रियां अत्यन्त सूक्ष्म तथा अत्यन्त तीव्र अपने विषयों का भी ग्रहण नहीं कर पातीं, व्यवहित विषयों को जानने का सामर्थ्य इन्द्रियों में है ही नहीं। इसलिए अनादि अनन्त देश काल वस्तुरूप जगत् को तथा इसके उपादान-कारण को विचार के बिना केवल इन्द्रियों द्वारा नहीं जाना जा सकता।

ईश्वर तो परोक्ष वस्तु होने से विचार के बिना इन्द्रियों द्वारा कथमपि नहीं जाना जा सकता। यद्यपि जीव का जगत् की भांति इन्द्रियों से प्रत्यक्ष नहीं होता, तो भी जीव ईश्वर की भाँति सर्वथा परोक्ष भी नहीं, क्योंकि 'मैं हूँ' इस रूप में सब को साक्षात् अपरोक्ष रूप से अनुभूत हो रहा है। तथापि जीव (आत्मा) की सत्ता, चित्ता, आनन्दता, अणुता, विभुता, कर्तृता, भोक्तृता आदि के बारे में पूर्वोक्त प्रकार से नाना-विध सन्देह होते हैं। इसलिए जीव (आत्मा) के बारे में प्रथम विचार करते हैं। तत्पश्चात् जगत्-उपादानकारण, जगत्-निमित्तकारण (ईश्वर) पर विचार करेंगे। इसके बाद इन तीनों तत्त्वों का विचार जिस प्रयोजन (मोक्ष रूप साध्य) के लिए किया गया है, उस पर विचार करके उसके साधनों पर भी विचार किया जायगा। इस प्रकार इस ग्रन्थ में जीव (आत्मा), जगत्, ईश्वर, साध्य (मोक्ष) और साधन इन पांच अति उपयोगी तत्त्वों पर विचार किया जायगा, कारण कि मुमुक्षु को इनका जानना अति आवश्यक है।

●

आत्मा की सत्ता का विचार

चार्वाक-मत

(क) चार्वाक का कहना है कि पृथ्वी, जल, तेज, वायु इन चार भूतों का संघात (मिला-जुला रूप) देह ही आत्मा है। 'मैं जाता हूं, बैठता हूं, मोटा हूँ, पतला हूं, गोरा हूं, काला हूं, पचीस वर्ष का हूँ' आदि व्यवहारों से देह ही आत्मा है, यही अनुभव में आता है। इन व्यवहारों से पृथक् आत्मा की कोई सत्ता अनुभूत नहीं होती ।

(ख) दूसरे चार्वाक आचार्य की मान्यता है कि शरीर भले ही विद्यमान रहे यदि उसमें इन्द्रियां न हों तो किसी प्रकार का कोई व्यवहार सिद्ध नहीं हो सकता। 'मैं सुनता हूँ, छूता हूं, देखता हूं, चखता हूं, सूंघता हूं' यह व्यवहार इन्द्रियों के साथ देह का तादात्म्य हो जाने के कारण ही निष्पन्न होता है, इसलिए देह आत्मा नहीं, किन्तु इन्द्रियां आत्मा है।

(ग) तीसरे आचार्य का अभिमत है कि प्राणों के बिना कोई भी इन्द्रिय अपना कार्य नहीं कर सकती तथा प्राणों के समाप्त होते ही लोग कहते हैं कि 'अमुक व्यक्ति मर गया' इससे सिद्ध होता है कि प्राण ही आत्मा है।

(घ) चौथा आचार्य मानता है कि सुषुप्ति एवं मूर्च्छा आदि में प्राण तो होते हैं किन्तु मन नहीं होता, मन के न होने से ही किसी प्रकार का कोई व्यवहार नहीं होता, इसलिए मन ही आत्मा है।

(ङ) पांचवां आचार्य स्वीकार करता है कि मन का व्यापार बुद्धि के अधीन होता है और 'मैं जानता हूँ' इस प्रकार आत्मसत्ता का अनुभव होता है, इसलिए बुद्धि ही आत्मा है।

(च) छठे आचार्य का आग्रह है कि इनमें से किसी एक से सब व्यवहारों की संगति नहीं बैठती, किसी एक का अभाव होने पर तथा दूसरों के रहने पर भी कोई कार्य सम्पन्न नहीं होता, इसलिए इन सब का संघात ही आत्मा है। इसके सिवा व्यष्टि में या समष्टि में किसी अन्य चेतन तत्त्व को आत्मा मानना अनुभव से सिद्ध नहीं होता।

संक्षेप में यही चार्वाकों का सिद्धान्त है, जिसका दर्शनग्रन्थों में पूर्वपक्ष के रूप में उल्लेख मिलता है; इसके अतिरिक्त उनका स्वतन्त्र कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता।

क्षणिक आत्मवादी बौद्धमत

चार्वाक के मत में सब से बड़ी दो कमियां हैं—एक तो यह कि जब किसी भी भूत में चेतनता है ही नहीं, तब वे चार हों या चार हजार, उनसे चेतनता कैसे उत्पन्न होगी ? यदि कहें कि जैसे अमुक-अमुक गैसों में जल न होने पर भी उन दोनों के मेल से जल उत्पन्न हो जाता है, वैसे ही चेतनता-रहित भूतों से भी चेतनता उत्पन्न हो जायगी, तो यह कहना भी ठीक नहीं, कारण कि यदि उन गैसों में किसी रूप में भी जल नहीं तो उनके अतिरिक्त

दूसरे दो गैसों से भी जल उत्पन्न होना चाहिए, परन्तु जल उत्पन्न होता नहीं। इस अन्वय-व्यतिरेक से यह सिद्ध हो जाता है कि अन्य गैसों की अपेक्षा पूर्व कहे गैसों में जल उत्पन्न करने की योग्यता है। इसी योग्यता को कोई जल का प्रागभाव, कोई जल की शक्ति, कोई सूक्ष्म जल आदि कह देता है।

यदि कहें जैसे अन्न-जल आदि में मदशक्ति न होने पर भी उनके संयोग से मदशक्ति उत्पन्न हो जाती है, वैसे ही चेतनतारहित भूतों के संयोग से भी चेतनता की उत्पत्ति हो जायगी, तो यह दृष्टांत भी ठीक नहीं, क्योंकि अन्न-जल आदि में मदशक्ति सूक्ष्मरूप से विद्यमान रहती है, यह बात भोजन करने के बाद में होनेवाले आलस्य से स्पष्ट हो जाती है।

दूसरी कमी यह है कि उन भूतों का यथायोग्य रीति से संयोजन करनेवाला चार्वाक के मत में कोई है ही नहीं। इसलिए 'मैं जानता हूँ' इस अनुभव-सिद्ध चेतनता को ही भूतों से भिन्न आत्मा मान लेना चाहिए। यह चेतनता कोई स्थिर = अपरिवर्तनीय कूटस्थ आत्मा नहीं, किन्तु क्षणिक ही है। कारण कि स्थिर कूटस्थ आत्मा में पूर्व अनुभूत पदार्थों के ज्ञान से जन्य संस्कारों का आधान नहीं हो सकता। इसलिए 'मैं वही हूँ' यह प्रत्यभिज्ञा भी स्थिर कूटस्थ आत्मतत्त्व-मूलक नहीं, किन्तु 'यह वही दीपशिखा है' इस प्रत्यभिज्ञा की भाँति सादृश्य-मूलक ही है। परपक्ष-बाधक एवं स्वपक्ष-साधक युक्तियों का उल्लेख क्षणिकवादी बौद्धों ने इस प्रकार किया है—

परपक्ष-बाधक युक्तियां

इस जन्म की या जन्मान्तर की 'मैं वही हूँ' इस प्रत्यभिज्ञा के बल पर स्थिर = त्रिकालाबाधित आत्मतत्त्व सिद्ध किया जाता है। हम पूछते हैं कि वह प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्ष-प्रमाण-जन्य है ? या संस्कार-जन्य केवल स्मृतिरूप है ? अथवा उभयरूप है ? वह प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्ष-प्रमाण-जन्य नहीं हो सकती; क्योंकि यदि प्रत्यक्ष-प्रमाण-जन्य होती तो उसका रूप 'मैं यह हूँ' ऐसा होता। वह स्मृतिरूप भी नहीं हो सकती; क्योंकि केवल स्मृतिरूप होने पर तो 'वह' इतना ही उसका रूप होगा। उसे उभयात्मक भी नहीं मान सकते, कारण कि प्रत्यक्षज्ञान तथा स्मरणरूप परोक्षज्ञान दोनों परस्पर विरोधी होने से एक साथ रह नहीं सकते। अतः प्रत्यभिज्ञा को किसी के मत में भी स्वतन्त्र प्रमाण नहीं माना जा सकता तथा प्रत्यभिज्ञा प्रसिद्ध प्रमाणों के अन्तर्गत भी नहीं आती, जिसके बल पर आत्मा को स्थिर = कूटस्थ तत्त्व सिद्ध किया जा सके।

प्रथम पदार्थ का ज्ञान उत्पन्न होता है। उस ज्ञान के नष्ट हो जाने पर संस्कार पड़ते हैं, उन संस्कारों से स्मरण पैदा होता है। संस्कारों का यह आधान सर्वथा कूटस्थ निर्विकार स्थिर आत्मा में हो नहीं सकता, इसलिए विकारी = परिवर्तनशील ही आत्मा को मानना पड़ता है। यह परिवर्तन प्रत्येक क्षण में होता रहता है। इस रीति से आत्मतत्त्व क्षणिक ही सिद्ध होता है।

मण्डन—'मैं वही हूँ' इस प्रत्यभिज्ञा से स्थिर आत्मा को सिद्ध किया जाय तो उसे अवश्य ही संस्काररूप विकारवाला ही मानना

होगा, किंतु हम तो यह कहते हैं कि 'घटः सन्, पटः सन्' अर्थात् 'घट है-पट है' इस प्रकार सर्वत्र अनुगत जो सत्ता है वह आत्मसत्ता से पृथक् नहीं। कारण कि घट-पट में अनुगत सत् अर्थात् सत्ता घट-पट आदि वस्तुरूप या अस्तित्व धर्मरूप नहीं हो सकती। अपनी आत्मा की सत्ता में किसी को भी संदेह नहीं। घट-पट में रहनेवाली सत्ता को आत्मसत्ता से भिन्न सत्ता मानने से दो सत्ताएँ माननी पड़ेंगी, जिससे गौरव-दोष होगा। एक आत्मसत्ता ही घट-पट आदि उपाधियों से उपहित होकर 'घट है, पट है' इन रूपों में प्रतीत हो रही है, ऐसा मान लेने में ही लाघव है। इस प्रकार एक अखंड सत्स्वरूप (सत्तारूप) आत्मा सिद्ध हो जायगा तथा संस्कार-रूप विकार भी प्राप्त नहीं होगा।

खण्डन—आपका यह कहना भी ठीक नहीं, कारण कि 'आत्मा सन्' 'ब्रह्म सत्' इत्याकारक अनुगत प्रतीति के बल से घट-पट आदि पदार्थों की भाँति आत्मा और ब्रह्म भी सत्ता से भिन्न एवं विनाशी सिद्ध हो जायँगे।

मण्डन—'आत्मा सन्' 'ब्रह्म सत्' आदि प्रतीतियों में 'राहोः शिरः' की भाँति अभेद में ही भेद प्रतिपादित-सा हो रहा है, वस्तुतः वहाँ भेद है नहीं।

खण्डन—यह कहना भी संगत नहीं, क्योंकि 'आत्मा सन्' 'घटः सन्' आदि प्रतीतियाँ समान हैं। फिर 'आत्मा सन्' इस प्रतीति में आत्मा और सन् = सत्ता का अभेद मानना तथा 'घटः सन्' इस प्रतीति में घट और सत्ता का भेद मानना, यह बात बिना किसी विशेष कारण के कैसे संगत हो सकती है ?

दूसरी बात यह भी है कि 'घट प्रकाश' 'पट प्रकाश' 'घट इच्छा' 'पट इच्छा' आदि प्रतीतियों में प्रकाश एवं इच्छा की अनुगत प्रतीति हो रही है, तो क्या आप प्रकाश और इच्छा को भी अखंड = अविनाशी स्वीकार कर लेंगे ?

मण्डन—देखिए, दीपशिखा की लघुता और विशालता एवं प्रकाश की न्यूनता और अधिकता के कारण प्रकाश को अखंड = अविनाशी नहीं माना जा सकता। सुषुप्ति में इच्छा का अभाव होने के कारण इच्छा को भी अखंड = अविनाशी नहीं माना जा सकता। आत्मा का कहीं भी और कभी भी अभाव नहीं होता, इसलिए आत्मा अखंड = अविनाशी होने के कारण ही अनुगत प्रतीत हो रहा है।

खण्डन—जब तक आत्मा की अखंडता किसी प्रबल युक्ति से अथवा प्रबल प्रमाण से निर्दोष सिद्ध नहीं की जाती, तब तक उक्त अनुगत प्रतीति अखंडता-मूलक ही है, प्रकाशत्व, इच्छात्व की भाँति सादृश्य-मूलक नहीं, यह कैसे निर्णीत हो सकता है ?

मण्डन—आत्मा के विनाश का अनुभव किसी को कभी नहीं हो सकता, क्योंकि आत्मा के विनाश का अनुभव आत्मा की विद्यमानता में हो ही नहीं सकता तथा आत्मा की अविद्यमानता में उसके विनाश का अनुभव कौन करेगा ? इसलिए आत्मा अखंड = अविनाशी है।

खण्डन—आपका यह कहना भी ठीक नहीं, कारण कि काल, आकाश आदि अनेक ऐसे पदार्थ हैं जिनके अभाव का कभी अनुभव

नहीं हो सकता। इससे क्या आप उन सबको अखंड = अविनाशी मान लेंगे ?

मण्डन—सुषुप्ति-काल में किसी को भी काल, आकाश आदि का अनुभव नहीं होता। इसलिए काल, आकाश आदि अखंड = अविनाशी सत् नहीं।

खण्डन—यह भी युक्तियुक्त नहीं, कारण कि 'सुषुप्ति-काल में आकाश आदि नहीं रहते' यह कथन ही काल को सिद्ध कर रहा है। वास्तव में काल का अभाव कभी अनुभूत हो ही नहीं सकता, क्योंकि किसी भी पदार्थ के भाव और अभाव का अनुभव किसी काल में ही होता है। इसलिए काल के अभाव का जब भी अनुभव होगा तब किसी काल में ही होगा।

सुषुप्ति में आकाश का केवल अनुभव न होना ही आकाश के अभाव को सिद्ध नहीं कर सकता। कारण कि वस्तु के विद्यमान होने पर भी ज्ञान के साधन न होने के कारण भी वस्तु का अनुभव नहीं होता। यदि दृष्टिसृष्टिवाद का सहारा लेकर यह कहा जाय कि जब जिस वस्तु का ज्ञान नहीं होता तब उस वस्तु के होने में कोई प्रमाण नहीं, तो यह कहना भी ठीक नहीं। कारण कि जब अज्ञानी मनुष्य को अज्ञान-काल में शरीर आदि से पृथक् आत्मा का अनुभव नहीं होता तब क्या आपको अज्ञान-काल में आत्मा का अभाव मान्य है ?

मण्डन—अबाधित होना ही सत् है। घट, पट आदि का बाध हो जाता है, इसलिए वे असत् हैं और आत्मा का बाध नहीं होता इसलिए वह सत् है।

खण्डन—आपका यह कथन भी ठीक नहीं। वर्तमान में अर्थात् प्रतीति-काल में तो घट, आकाश आदि पदार्थों की बात ही क्या, रज्जु-सर्प आदि मिथ्या पदार्थों का भी बाध नहीं होता। यदि अबाधित शब्द से आपका अभिप्राय त्रिकालाबाधित से हो, तो आपको यह सिद्ध करना पड़ेगा कि आत्मा का बाध कभी पहले हुआ ही नहीं और न कभी आगे होगा ही। वर्तमान काल में आत्मा विद्यमान है इतने मात्र से अनन्त भूत और अनन्त भविष्य काल में आत्मा का आबाधित होना सिद्ध नहीं किया जा सकता। अन्यथा वर्तमान काल में विद्यमान होने से घट-पट आदि पदार्थ भी त्रिकाला-बाधित सिद्ध हो जायँगे।

मण्डन—घट, पट आदि पदार्थों का विनाश अनुभवसिद्ध है। इसलिए वे विनाशी हैं, अतः त्रिकालाबाधित सिद्ध नहीं हो सकते।

खण्डन—यदि आप ऐसा कहते हैं तो काल, आकाश आदि का विनाश भी कभी अनुभव में नहीं आता, फिर उन्हें अबाधित क्यों नहीं मानते ? वास्तव में बात यह है कि केवल बाधक प्रमाण न होने से ही किसी वस्तु की सिद्धि नहीं हो जाती। उसकी सिद्धि करने के लिए आपको साधक प्रमाण भी अवश्य दिखाना चाहिए।

मण्डन—सुनिए—जो देश, काल एवं वस्तु से परिच्छिन्न होता है, वह बाधित होता है। घट, पट, आकाश आदि पदार्थ इन तीनों परिच्छेदों से रहित नहीं, इसलिए वे बाधित हैं। आत्मा इन तीनों परिच्छेदों से रहित है, इसलिए अबाधित है।

खण्डन—इन तीन प्रकार के परिच्छेदों से युक्त होना पदार्थों के बाधित होने में मुख्य कारण नहीं। किन्तु अज्ञान-जन्यत्व ही पदार्थों के बाधित होने में मुख्य कारण माना जाता है, क्योंकि मिथ्या रज्जु-सर्प आदि में अज्ञान-जन्यत्व ही बाधितपने में हेतु है। दूसरी बात यह भी है कि 'जड़ अनात्मा आत्मा नहीं' इस प्रकार आपको आत्मा में भी वस्तु परिच्छेद मानना ही पड़ेगा। 'आत्मा त्रिकालाबाधित है' यह अभी तक सिद्ध नहीं हुआ, इसलिए काल परिच्छेद भी मानना पड़ेगा। युक्ति एवं अनुभूति से आत्मा की व्यापकता सिद्ध नहीं हो सकती, इसलिए देश परिच्छेद भी मानना ही पड़ेगा। ऐसी स्थिति में आत्मा को तीनों परिच्छेदों से रहित कहना अपनी प्रक्रिया की रटंत मात्र है। वास्तव में 'मैं अनन्त भूत में था और अनन्त भविष्य में रहूँगा' ऐसा अनुभव होना तो बहुत दूर की बात है, 'पाँच सौ वर्ष पूर्व मैं था या पाँच मिनट के बाद मैं रहूँगा' ऐसा किसी को भी प्रत्यक्ष नहीं होता, फिर भी आत्मा को त्रिकालाबाधित कहते जाना अन्धविश्वास के अतिरिक्त और क्या हो सकता है ?

मण्डन—'मैं देश-काल-वस्तु का द्रष्टा हूँ' यह बात निर्विवाद सब के अनुभव में आ रही है, अतः आत्मा देश-काल-वस्तु से अपरिच्छिन्न है, यह स्वयं सिद्ध हो जाता है।

खण्डन—आपको सौ-दो सौ वर्ष से अधिक भूत काल का तथा पाँच मिनट बाद के भी भविष्य काल का अनुभव नहीं, फिर भी अनन्त भूत काल का तथा अनन्त भविष्य काल का मैं द्रष्टा हूँ,

यह कहना केवल दुस्साहस मात्र है। इसी प्रकार आपको अनन्त देश एवं अनन्त वस्तुओं का भी कुछ अनुभव नहीं, फिर आप उन सब के द्रष्टा कैसे हो सकते हैं ?

मण्डन—'किंचित् देश-काल-वस्तु का मैं द्रष्टा हूँ' इतना तो निर्विवाद अनुभव से सिद्ध है ही। इसके आधार पर मैं कह सकता हूँ कि 'जो-जो देश-काल-वस्तु होगी वह-वह दृश्य ही होगी' इसलिए मैं उन सब का भी द्रष्टा हूँ, यह अनुमान के द्वारा सिद्ध हो जाता है। इसमें दुस्साहस की कौन-सी बात है ?

खण्डन—आपका यह कहना भी विचारशून्य ही है, कारण कि इस प्रकार अनुमान द्वारा उन सब का द्रष्टा मान लेने पर भी आत्मा उनसे भिन्न ही सिद्ध होता है, अपरिच्छिन्न सिद्ध नहीं होता। दूसरी बात यह है कि 'द्रष्टा आत्मा देश-काल-वस्तु रूप दृश्य नहीं' ऐसा कहने से वस्तु का परिच्छेद तो अवश्य हो गले पड़ेगा।

मण्डन—क्रम का ज्ञान ही काल है, अतः काल ज्ञान से भिन्न नहीं। ज्ञान आत्मा का स्वरूप ही है, अतः काल आत्मा से भिन्न नहीं। अतः काल आत्मा का परिच्छेदक नहीं हो सकता।

खण्डन—आपका यह विचार भी असंगत ही है, क्योंकि क्रमज्ञान का भी उदय-विलय होता ही है। इस क्रमज्ञान के उदय-विलय का कारण क्रमज्ञान से भिन्न ही होगा। उसीका नाम काल है, क्रमज्ञान का नाम काल नहीं, क्योंकि सर्वत्र उदय-विलय में कारण काल ही होता है, अतः क्रमज्ञान के उदय-विलय में भी

काल ही कारण होगा। इस प्रकार उदय-विलय होनेवाला क्रमज्ञान कार्य है और काल उसका कारण है, अतः क्रमज्ञान ही काल है, यह कहना सर्वथा असंगत है। दूसरी बात यह है कि यदि क्रमज्ञान को ही काल मान भी लिया जाय तो इससे आत्मा को अविनाशी सिद्ध करने में कुछ भी सहायता नहीं मिलेगी, क्योंकि क्रमज्ञान स्वयं विनाशी है।

अतः कभी-कभी किसी-किसी को होनेवाली जन्मान्तरीय स्मृति की तथा प्राणियों के सुख-दुःख की विचित्रता की अन्यथा अनुपपत्ति के अतिरिक्त त्रिकाल में स्थिर आत्मसत्ता-सिद्धि का अन्य कोई उपाय नहीं। वेदान्तियों ने भी स्मृतिप्रत्यभिज्ञा आदि के द्वारा ही स्थिर आत्मा की सिद्धि की है; देखिये 'अनुस्मृतेश्च' २।२।२५। 'क्षणिकत्वाच्च' २।२।३१। 'सएव तु कर्मानु-स्मृतिशब्दविधिभ्यः' ३।२।९ ब्रह्मसूत्रों का भाष्य। किन्तु यह युक्ति भी संस्काररूप विकारयुक्त कर्ता-भोक्ता विकारी आत्मा की ही सिद्धि करेगी। विकारीआत्मा अंततः क्षणिकही सिद्ध होगा, यही हमारा सिद्धान्त है।

स्वपक्ष-साधक युक्तियाँ

ऊपर कही युक्तियों से आत्मा तीनों कालों में रहनेवाला स्थिर सिद्ध नहीं होता, अतः **परिशेष न्याय** से आत्मा क्षणिक ही सिद्ध होता है। 'मैं वही हूँ' यह प्रत्यभिज्ञा भी स्थिर आत्मसत्ता-मूलक नहीं, इसीलिए 'यह वही दीपशिखा है' की भाँति सदृशता-मूलक ही है।

निरन्वय अर्थात् सर्वथा अननुगत क्षणिक बीज में रक्तता आदि के संस्कारों के आधान की भाँति क्षणिक आत्मा में संस्कारों का आधान हो सकता है, अतः पूर्वजन्मकृत कर्मों का उत्तरजन्म में फलभोग, कार्यकारणभाव, पूर्व अनुभूत पदार्थों के वर्तमान स्मरण आदि में किसी प्रकार की कोई बाधा उपस्थित नहीं होती।

यदि कहें कि "बीज की क्षणिकता ही निर्विवाद सिद्ध नहीं, अतः उसका दृष्टांत देकर आत्मा की क्षणिकता सिद्ध नहीं की जा सकती" तो यह कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि कुसूल में पड़े हुए बीज से अंकुर की उत्पत्ति नहीं होती; किंतु खेत में पड़े हुए बीज से अंकुर की उत्पत्ति होती है। अंकुर की उत्पत्ति और अनुत्पत्ति ये दोनों परस्पर विरुद्ध धर्म हैं, उनका आश्रय एक ही बीज हो नहीं सकता, अतः कुसूल-स्थित बीज से खेत में स्थित बीज को सर्वथा भिन्न ही मानना होगा, क्योंकि दोनों के लक्षण भिन्न-भिन्न हैं। यही भिन्न-लक्षणता हमारे यहाँ 'स्व-स्व-लक्षणता' शब्द से कही जाती है। इसी प्रकार हाथ से गिरता हुआ बीज पृथ्वी पर पहुँचने तक प्रत्येक क्षण में फिल्म के फोटो की तरह भिन्न-भिन्न ही होता जाता है, अतः सभी बीज क्षणिक ही हैं। इस रीति से बीज की क्षणिकता सिद्ध हो जाती है।

यदि कहें कि "एक पदार्थ एक ही काल में परस्पर विरुद्ध धर्मों का आश्रय तो नहीं हो सकता; किंतु एक ही पदार्थ कालभेद से विरुद्ध धर्मों का आश्रय हो ही सकता है। अतः एक ही स्थिर बीज में जल, मिट्टी आदि सहयोगी सामग्री के अभाव काल में

अंकुर की अनुत्पादकता तथा जल, मिट्टी आदि सहयोगी सामग्री के सद्भाव काल में अंकुर की उत्पादकता रह सकती है, इसमें कुछ भी विरोध नहीं आता"। यह कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि हम पूछते हैं कि जल, मिट्टी आदि सहयोगी सामग्री बीज का कुछ उपकार करती है या नहीं ? यदि उपकार नहीं करती तो वह सहयोगी सामग्री कैसे कहलाएगी ? यदि उपकार करती है तो वह उपकार बीज से भिन्न है या अभिन्न ? भिन्न मान लेने पर तो बीज में अंकुर की उत्पादकता ही सिद्ध नहीं होगी तथा अभिन्न मान लेने पर वह बीजरूप ही होगी, तब केवल बीज से ही अंकुर की उत्पत्ति होती है, यही मानना पड़ेगा। किंतु यह बात अनुभव-विरोधी होने के कारण मानी नहीं जा सकती। अतः सभी बीजों को क्षणिक तथा सर्वथा भिन्न = स्व-स्व-लक्षण ही मानना चाहिए।

जैसे इन क्षणिक बीजों में रक्तता आदि के संस्कारों का आधान कर देने पर रक्तता आदि का कार्य उसी चालू प्रवाह में उत्पन्न क्षेत्रस्थ बीज में प्रगट हो जाता है। वैसे ही पूर्व उत्पन्न क्षणिक विज्ञान द्वारा अनुभूत पदार्थों का संस्कार उसी चालू प्रवाह में उत्पन्न क्षणिक विज्ञान में स्मृति आदि कार्य पैदा कर देता है, इसमें किसी प्रकार की शंका के लिए कोई स्थान नहीं। अतः क्षणिक पक्ष में संस्काराधान, तज्जन्य स्मृति, फलभोग, कार्यकारणभाव आदि की संगति ठीक बैठ जाती है।

इसलिए आत्मा क्षणिक ही है, स्थिर कूटस्थ नहीं। (क्षणिक बीज में संस्काराधान की साधक-बाधक युक्तियाँ बहुत हैं और

अत्यन्त क्लिष्ट हैं; इसलिए वे सभी यहाँ नहीं दी गयीं। जिन्हें देखना हो उन्हें बौद्धों के ग्रन्थों में देखना चाहिए।)

स्थिर परिणामवादी जैनमत

जन्मान्तर न माननेवाले देहात्मवादी चार्वाक का तथा जन्मान्तर माननेवाले क्षणिक विज्ञानवादी बौद्ध का मत पहले प्रकरणों में दिखा आये हैं। अब उन दोनों अस्थिर = विनाशी आत्मवादी मतों का जैनमतवादी निम्नलिखित युक्तियों से खंडन करके स्थिर = अविनाशी एवं परिणामी आत्मसत्ता की सिद्धि करते हैं—

देहात्मवादखण्डन—यदि देह के हाथ-पैर आदि अंगों को अथवा नेत्र आदि इन्द्रियों को या मन-बुद्धि को पृथक्-पृथक् आत्मा माना जाय तो एक ही शरीर में नाना = अनेक आत्मा मानने पड़ेंगे। एक की अनुभूत वस्तु का दूसरा स्मरण नहीं कर सकता, कारण कि 'जो अनुभव करनेवाला होता है वही स्मरण करनेवाला होता है' यह नियम सर्वमान्य है। इस नियम का निर्वाह एक शरीर में नाना आत्मा मान लेने पर नहीं हो सकेगा, क्योंकि नेत्र से अनुभूत रूप का मन कैसे स्मरण कर सकेगा? तथा रूप आदि का अनुभव करनेवाले नेत्र आदि रूप आत्मा का नाश हो जाने पर रूप आदि का स्मरण कभी नहीं होना चाहिए।

यदि उक्त दोषों से बचने के लिए सभी के संघात को आत्मा माना जाय तो एक-दो अंगों के अथवा एक-दो इन्द्रियों के नष्ट हो जाने पर संघातघटक सभी अवयवों के अभाव में अवयवों

से बना संघात नष्ट होगा या संघातरूप आत्मा का कोई एक अंश नष्ट होगा, यह अवश्य मानना पड़ेगा, किंतु दोनों पक्ष अनुभव-विरुद्ध होने के कारण माने नहीं जा सकते। कारण कि एक अंग या एक इन्द्रिय के विनष्ट हो जाने पर भी 'मैं वही हूँ' यह अनुभव होता ही रहता है तथा विनष्ट इन्द्रिय से अनुभूत विषय की स्पष्ट स्मृति भी होती रहती है। अतः 'इन सबका संघात ही आत्मा है' यह पक्ष भी उक्त दोषों के कारण ही ठीक नहीं।

संघातवादी के मत में स्मरण-उत्पादक संस्कारों का आधान कहाँ होगा ? इस प्रश्न का सही उत्तर नहीं दिया जा सकता। यदि तत् तत् (उन-उन) ज्ञान-क्रिया-कारक अवयवों में ही संस्कारों का आधान माना जाय तो तत्-तत् अवयवों का विनाश हो जाने पर तत्-तत् विषयों का स्मरण नहीं होना चाहिए। यदि सभी के संस्कारों का आधान मस्तिष्क या हृदय में मान लिया जाय तो एक चित्रपट पर लिए गये नाना चित्रों की भाँति किसी का भी संस्कार स्पष्ट नहीं होगा। अतः उनका स्पष्ट स्मरण भी नहीं होगा, किंतु उनका स्मरण अति स्पष्ट होता ही है, इसलिए यह पक्ष भी अनुभव-विरुद्ध होने के कारण माना नहीं जा सकता। यदि पृथक्-पृथक् संस्कारों का आधान मस्तिष्क या हृदय के पृथक्-पृथक् कोशों में = अंशों में मान लिया जाय, तो प्रतिदिन मस्तिष्क की या हृदय की वृद्धि होनी चाहिए तथा शल्यक्रिया द्वारा मस्तिष्क के या हृदय के एक अंश का कर्तन कर देने पर या सब अंशों का परिवर्तन कर देने पर कुछ पदार्थों का या सब पदार्थों

का स्मरण नहीं होना चाहिए। यदि किसी प्रकार संघात में यावत् जोवन-स्थायो कोई तत्त्व मान लिया जाय एवं उसी में संस्कारों का आधान स्वीकार करके स्मरण आदि की संगति बैठा ली जाय, तो भी पूर्वजन्म का स्मरण करनेवाले व्यक्तियों का उल्लेख जहाँ-तहाँ समाचार-पत्रों में आता हो रहता है, उनके पूर्वजन्म के स्मरण को संगति संघातवादी के मत में तो किसी प्रकार भी हो नहीं सकती। कारण कि उनका संघात तो अग्नि में भस्म हो चुका।

जो लोग समाचार-पत्रों की बात भी नहीं मानते उनके लिए युक्तियों से पूर्वजन्म सिद्ध कर देने पर संघात-आत्मवाद सर्वथा अमान्य हो जायगा, इसलिए कुछ युक्तियाँ दिखाई जाती है।—

एक ही देश में, एक ही काल में, एक ही समाज में, एक ही माता-पिता के अनेक संतानें होती हैं, उन संतानों में जन्म से ही स्वस्थता-रुग्णता, बुद्धिमत्ता-मूर्खता आदि की विचित्रता देखने में आती है। यह विचित्रता पूर्वजन्म माने बिना किसी प्रकार भी संगत नहीं होती। यदि कहें कि भिन्न-भिन्न संतानों की उत्पत्ति के समय माता-पिता के स्वभाव में, खान-पान में, समाज के वातावरण आदि में विचित्रता होतो है, उसी विचित्रता के कारण संतानों में भी विचित्रता पैदा हो जाती है। दृष्टकारणवादियों का यह कथन भी ठीक नहीं क्योंकि जो स्वभाव माता-पिता के जीवन में कभी भी देखने में नहीं आया वह स्वभाव संतान में कहाँ से आ जाता है?

यदि कहें कि वह स्वभाव व्यक्त = दृष्टरूप में नहीं; किन्तु

अव्यक्त = अदृष्टरूप में माता-पिता में विद्यमान था, तो यह उत्तर देना दृष्टकारणवादी को शोभा नहीं देता। फिर भी हम पूछते हैं जब एक साथ ही दो-तीन सन्तानें उत्पन्न हो जाती हैं, तब उनमें परस्पर विचित्रता कहाँ से आ जाती है ? क्योंकि माता-पिता के खान-पान तथा अव्यक्त-स्वभाव आदि विचित्रता के कारण सभी सन्तानों के लिए समान ही हैं। इसलिए ऐसे स्थलों की विचित्रता से स्पष्ट हो जाता है कि प्राणियों के पूर्वजन्मकृत संस्कार ही एकमात्र विचित्रता के हेतु हैं। इसका मतलब यह नहीं निकाल लेना चाहिए कि हम व्यक्त = दृष्ट कारणों को विचित्रता के उत्पादक नहीं मानते। यदि ऐसा होता तो शास्त्रों में गर्भाधान-संस्कारों के नियमों का, गर्भवती स्त्री को खान-पान आदि विधियों का तथा बालक के शिक्षा-प्रकारों का प्रतिपादन कभी न होता। अतः जहाँ दृष्ट कारणों से पूर्ण संगति नहीं बैठती वहाँ अदृष्ट कारण = पूर्वजन्मकृत कर्म मानने ही पड़ते हैं। इस प्रकार युक्तियों से भी पूर्वजन्म सिद्ध हो जाने पर 'आत्मसत्ता संघातरूप ही है' यह मत सर्वथा खंडित हो जाता है।

क्षणिक आत्मवाद का खंडन

१—दीपशिखा का आकारभेद प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध है तथा तेल-बत्ती के विनाशरूप अनुमान प्रमाण से भी दीपशिखा का भेद सिद्ध हो जाता है। अतः प्रत्यक्ष प्रमाण और अनुमान प्रमाण बाधक होने के कारण 'यह वही दीपशिखा है' इस प्रत्यभिज्ञा को सादृश्य-मूलक मानना तो ठीक है, किन्तु 'मैं वही हूँ' इस प्रत्यभिज्ञा में

कोई प्रमाण बाधक न होने के कारण इसे स्थिर = अविनाशी आत्मसत्ता-मूलक मानना ही युक्तियुक्त है।

२—सर्वथा क्षणिक विज्ञान अपने उत्तरवर्ती विज्ञान में संस्कारों का आधान नहीं कर सकता, कारण कि प्रथम क्षण में उत्पन्न होना, द्वितीय क्षण में संस्काराधान करना, तृतीय क्षण में विनष्ट होना—इस क्रम से विज्ञान को कम-से-कम तीन क्षण तो अवश्य ही स्थिर रहना चाहिए। दूसरी बात यह है कि संस्कारों का आधान करनेवाले पूर्व विज्ञान को तथा जिसमें संस्कारों का आधान करना है उस उत्तर विज्ञान को युगपद् = एक काल में भी होना चाहिए। अन्यथा संस्कारों का आधान करनेवाला किस में संस्कारों का आधान करेगा ? इसलिए क्षणिक विज्ञानवाद में संस्कारों का आधान होना किसी प्रकार भी संभव नहीं।

३—बीज का दृष्टान्त देना भी ठीक नहीं, क्योंकि 'पूर्व क्षण में जो बीज मैंने देखा था उसी बीज को उत्तर क्षण में हाथ से स्पर्श कर रहा हूँ' इस प्रत्यक्ष प्रत्यभिज्ञा से पूर्व क्षण में देखे हुए रूप का तथा उत्तर क्षण में अनुभूत स्पर्श का आश्रय एक स्थिर बीज सिद्ध होता है, अतः बीज की अक्षणिकता से तथा क्षणिक में संस्कारों की अनाधानता से बीज का दृष्टान्त दिया नहीं जा सकता।

४—प्रत्यभिज्ञा संस्कार-सहकृत प्रत्यक्ष प्रमाण ही है। अतः 'प्रत्यभिज्ञा प्रमाणों के अन्तर्गत नहीं आती' बौद्धों का यह कथन भी ठीक नहीं। इसलिए अनेक विकल्पों द्वारा प्रत्यभिज्ञा का जो खंडन किया है उसका समाधान देने की कोई आवश्यकता नहीं। केवल

नेत्ररूप प्रत्यक्ष प्रमाण से दूरस्थित वस्तु का सामान्यतः ही प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, फिर दूरदर्शक यंत्र की सहायता से उसी नेत्ररूप प्रत्यक्ष प्रमाण से सामान्य प्रत्यक्ष ज्ञान से विलक्षण विशेष प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। दूरदर्शक यंत्र के सहयोग से ज्ञान में विशेषता आ जाने पर भी जैसे नेत्र की प्रत्यक्ष प्रमाणता भंग नहीं होती; वैसे ही संस्कारों के सहयोग से 'मैं हूँ' की अपेक्षा 'मैं वही हूँ' ऐसी ज्ञान में विशेषता आ जाने मात्र से प्रत्यभिज्ञा की प्रत्यक्ष प्रमाणता का अपलाप करना संभव नहीं। अतः 'मैं वही हूँ' यह प्रत्यक्ष प्रमाणरूप प्रत्यभिज्ञा निर्बाधरूप में 'स्थिर आत्मसत्ता-मूलक ही है, सदृशता-मूलक नहीं' यह सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार प्रत्यभिज्ञा को प्रत्यक्ष प्रमाण के अन्तर्गत मानकर न्याय आदि दर्शन समाधान करते हैं। हमारे जैनदर्शन में तो प्रत्यभिज्ञा स्वतन्त्र प्रमाण है।

यह स्थिर आत्मसत्ता भी सर्वथा कूटस्थ = अपरिणामी नहीं; किन्तु परिणामी स्थिर है, क्योंकि सर्वथा क्षणिक विज्ञानवाद की भाँति सर्वथा कूटस्थ स्थिरवाद में भी संस्कारों का आधान होना बन नहीं सकता। अतः **परिशेष न्याय** से आत्मसत्ता को परिणामी स्थिर मानना ही युक्तियुक्त है। यदि कहें कि एक ही वस्तु परिणामी = परिवर्तनशील तथा स्थिर = अपरिवर्तनशील इन परस्पर विरुद्ध दो स्वभावोंवाली कैसे हो सकती है? तो यह आक्षेप भी ठीक नहीं, कारण कि जैसे मिट्टी घट-सकोरा आदि पर्यायों के रूप में परिणामी है तथा द्रव्यरूप में स्थिर है, यह बात प्रत्यक्ष प्रमाण से अनुभव-सिद्ध है, इसमें कोई अनुपपत्ति नहीं। वैसे ही

आत्मसत्ता भी परिणामी होकर भी स्थिर रह सकती है। पूर्व जन्म से भी पूर्व जन्म होने के कारण अनंत भूत काल में आत्मसत्ता सिद्ध हो जायगी, एवं उत्तर-उत्तर जन्म में आत्मसत्ता विद्यमान होने से अनंत भविष्य काल में भी आत्मसत्ता सिद्ध हो जाती है। इस प्रकार त्रिकालाबाधित स्थिर आत्मा सिद्ध हो जाता है।

स्थिर अपरिणामी आत्मसत्तावाद

षड्दर्शनमत—श्रुति = वेद को प्रमाण माननेवाले षड्दर्शन (न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग, पूर्वमीमांसा-उत्तरमीमांसा) स्थिर अपरिणामी = कूटस्थ आत्मसत्ता मानते हैं। उनमें से न्याय और वैशेषिक का कहना है कि घड़ा, सकोरा आदि कार्य भी अपने कारण मिट्टी रूप द्रव्य से सर्वथा भिन्न ही होते हैं। उन्हें मिट्टी से अभिन्न मानने पर या तो मिट्टी के नित्य होने के कारण घट आदि कार्य भी नित्य ही मानने पड़ेंगे, अथवा घट आदि कार्यों को विनाशी होने के कारण मिट्टी को भी विनाशी मानना पड़ेगा। अतः उन्हें अभिन्न नहीं माना जा सकता, अभिन्न प्रतीति तो समवाय संबंध के कारण ही होती है। इसलिए मिट्टी-घड़े आदि का दृष्टांत देकर 'एक ही आत्मा में स्थिरता तथा परिवर्तनशीलता रूप परस्पर विरुद्ध धर्म एकत्र रह सकते हैं' यह जैन-दार्शनिकों का कथन ठीक नहीं। इसलिए **परिशेष न्याय** से आत्मा को स्थिर अपरिणामी ही मानना चाहिए।

सुख, दुःख, ज्ञान आदि आत्मा के प्रत्यक्ष गुण हैं तथा ये आत्मा

और मन के संयोग से जन्य होने के कारण उत्तर क्षण में विनष्ट हो जाते हैं, उनकी सूक्ष्म अवस्था का नाम ही संस्कार है, अतः संस्कार भी ज्ञान आदि की भाँति आत्मा का ही अप्रत्यक्ष गुण है। गुण और गुणी का, कार्य और कारण की तरह सर्वथा भेद ही मान्य है, इसलिए संस्काररूप विकार से आत्मसत्ता की अपरिणामिता में कुछ भी बाधा नहीं आती। कार्यकारण की भाँति गुण-गुणी का भी अभेद व्यवहार समवाय संबंध के कारण होता है, अतः 'मैं अनुभव करनेवाला हूँ' 'मैं स्मरण करनेवाला हूँ' आदि व्यवहार भी संगत हो जाते हैं।

आत्मा से सर्वथा भिन्न जड़ अंतःकरण को ही संस्कारों का आश्रय नहीं माना जा सकता, क्योंकि स्मरण उत्पादक संस्कारों का आधान ज्ञाता = आत्मा में ही होता है। अंतःकरण जड़ होने के कारण ज्ञाता नहीं हो सकता, इसलिए स्मरण उत्पादक संस्कारों का आधान अन्तःकरण में कभी नहीं हो सकता। दूसरी बात यह है कि अंतःकरण ज्ञान का साधन है = कारण है। जैसे ज्ञान के साधन नेत्र में या दूरदर्शक यंत्र में स्मरण उत्पादक संस्कारों का आधान नहीं होता; वैसे ही अंतःकरण में भी संस्कारों का आधान नहीं हो सकता। अनुभव करनेवाला ही कालान्तर में स्मरण करता है, इसलिए अनुभव करनेवाले आत्मा में ही स्मरण उत्पादक संस्कारों का आधान मानना चाहिए। पूर्वमीमांसा-दर्शन का भी यही मत है। वह केवल समवाय संबंध को भेदाभेद संबंध के नाम से व्यवहृत करता है।

सांख्य-योग तथा वेदांत-दर्शन का कहना है कि संस्कारों का आधार = आश्रय आत्मा को नहीं माना जा सकता। आत्मा में संस्कार मान लेने पर आत्मा का तथा संस्कारों का गुणगुणी रूप से सर्वथा भेद स्वीकार कर लेने पर भी आत्मसत्ता को सर्वथा निर्विकार कूटस्थ अपरिणामी सिद्ध नहीं किया जा सकता, क्योंकि संस्काराधान के लिए आत्मसत्ता को अवश्य ही किंचिद् विकार-युक्त होना ही पड़ेगा। अतः **परिशेष न्याय** से अंतःकरण में ही संस्कारों का आधान मानना चाहिए, तभी आत्मा सर्वथा निर्विकार कूटस्थ अपरिणामी सिद्ध हो सकेगा, अन्यथा नहीं हो सकेगा, क्योंकि विकारी वस्तु अपरिणामी कूटस्थ निर्विकार नहीं हो सकती। अंतःकरण के साथ अविवेक-मूलक तादात्म्य संबंध के कारण ही 'मैं अनुभव करनेवाला हूँ' 'मैं स्मरण करनेवाला हूँ' आदि व्यवहार सम्पन्न हो जाते हैं। परिवर्तनशील पदार्थों का द्रष्टा होने से भी आत्मा अपरिवर्तनशील है। एवं काल का भी द्रष्टा होने से आत्मा कालातीत है। अपनी आत्मा के नाश का अनुभव न हो सकने के कारण आत्मा त्रिकालाबाधित है।

आत्मसत्तासमन्वय

चार्वाक, बौद्ध, जैन, षड्दर्शन—इन मतों का संक्षेप में वर्णन किया गया। इनमें से चार्वाक-मत में तो किसी प्रकार भी पूर्वजन्म

की सिद्धि नहीं हो सकती, इसलिए उसके साथ समन्वय नहीं दिखाया जा सकता। प्राचीन बौद्ध-मत में जो शून्यवाद तथा विज्ञानवाद है वह तो शांकर ब्रह्मवाद तथा चिद्वाद के ही नामान्तर मात्र हैं। (देखिए—डा० चन्द्रधर शर्मा कृत 'वेदांत और बौद्ध दर्शन'।) उनका समन्वय तो सुगमता से हो ही जायगा। रही बात नवीन क्षणिक विज्ञानवाद की, उसके संबंध में यह कहना है कि जाग्रत्-अवस्था तथा स्वप्न-अवस्था में 'मैं घट को जानता हूँ' 'मैं पट को जानता हूँ' आदि विशेषज्ञानरूप में ही आत्मा का अनुभव होता है, अतः इस अनुभूति के आधार पर बौद्धों ने पहले तो उस विशेषज्ञान को ही आत्मा घोषित कर दिया। फिर बाह्य पदार्थों की क्षणिकता-साधक युक्तियों को उक्त विशेषज्ञान-रूप आत्मा में लगाकर आत्मा को भी क्षणिक सिद्ध कर दिया। उसके बाद 'मैं घट को जानता हूँ' 'मैं पट को जानता हूँ' आदि में अनुगत 'अहं, अहं = मैं, मैं' की प्रत्यभिज्ञा सिद्ध स्थिरता को = एकता को सादृश्य-मूलक सिद्ध किया।

सुषुप्ति में उक्त विशेषज्ञानरूप आत्मा उच्छिन्न हो जाता है, तो भी मनुष्य पूर्व दिवसकृत अपूर्ण कार्य को स्मरण करके पूरा करने में प्रवृत्त होता है। इसकी संगति लगाने के लिए उक्त क्षणिक विशेष ज्ञानों के अतिरिक्त तथा उनसे विलक्षण 'अहं, अहं' रूप में आलय विज्ञान को स्वीकार किया। इसी प्रकार पूर्वजन्म एवं उत्तरजन्म की संगति लगाने के लिए भी क्षणिक विज्ञानों के अतिरिक्त आलय विज्ञान स्वीकार करना पड़ा।

फिर प्रतिवादियों के द्वारा यह आक्षेप करने पर कि यह तो नामान्तर से स्थिर आत्मा को ही स्वीकार कर लिया गया तथा अपने क्षणिकवाद सिद्धांत का परित्याग कर दिया। इस आक्षेप से बचने के लिए 'अहं' रूप आलय विज्ञान को भी क्षणिक प्रवाहरूप मानकर अपने सिद्धांत की रक्षा की गई। परन्तु मुक्ति-अवस्था में इन्द्रिय प्रत्यय, समनन्तर प्रत्यय आदि कोई भी हेतु न होने के कारण प्रवृत्तिविज्ञान और आलयविज्ञान में से किसी की भी धारा नहीं रह सकती। अपनी आत्मा की उच्छेदरूप ऐसी मुक्ति में साधक कैसे प्रवृत्त होगा ? प्रतिवादियों के इस प्रश्न के उत्तर में बौद्धों ने कहीं-कहीं अस्पष्टरूप में और कहीं-कहीं स्पष्टरूप में विशुद्धविज्ञान को मुक्ति-काल में स्वीकार किया है। वह विशुद्ध-विज्ञान प्रथम तो प्राचीन बौद्धों के विज्ञानवाद के साथ एक होकर फिर शांकर चैतन्यवाद के साथ एक होता हुआ स्थिर आत्मवाद में प्रविष्ट हो जाता है।

अब केवल यह विवाद रह जाता है कि यह स्थिर आत्मसत्ता परिणामी है ? या अपरिणामी ? इस विवाद का कारण भी विरुद्ध धर्मों का एकत्र समावेश न होना तथा संस्काराधान की संगति न बैठना ही है। यह पहले विस्तारपूर्वक दिखा चुके हैं। उनका **परिशेष न्याय** से अपने-अपने पक्ष में किस प्रकार समर्थन किया गया है, वह भी दिखा दिया गया है। पूर्व उक्त सभी दर्शनों का निष्पक्ष, गुणग्राही, उदार हृदय से विचार करने पर समन्वय की निम्नलिखित तीन दृष्टियाँ फलित होती हैं—

फिर प्रतिवादियों के द्वारा यह आक्षेप करने पर कि यह तो नामान्तर से स्थिर आत्मा को ही स्वीकार कर लिया गया तथा अपने क्षणिकवाद सिद्धांत का परित्याग कर दिया। इस आक्षेप से बचने के लिए 'अहं' रूप आलय विज्ञान को भी क्षणिक प्रवाहरूप मानकर अपने सिद्धांत की रक्षा की गई। परन्तु मुक्ति-अवस्था में इन्द्रिय प्रत्यय, समनन्तर प्रत्यय आदि कोई भी हेतु न होने के कारण प्रवृत्तिविज्ञान और आलयविज्ञान में से किसी की भी धारा नहीं रह सकती। अपनी आत्मा की उच्छेदरूप ऐसी मुक्ति में साधक कैसे प्रवृत्त होगा? प्रतिवादियों के इस प्रश्न के उत्तर में बौद्धों ने कहीं-कहीं अस्पष्टरूप में और कहीं-कहीं स्पष्टरूप में विशुद्धविज्ञान को मुक्ति-काल में स्वीकार किया है। वह विशुद्ध-विज्ञान प्रथम तो प्राचीन बौद्धों के विज्ञानवाद के साथ एक होकर फिर शांकर चैतन्यवाद के साथ एक होता हुआ स्थिर आत्मवाद में प्रविष्ट हो जाता है।

अब केवल यह विवाद रह जाता है कि यह स्थिर आत्मसत्ता परिणामी है? या अपरिणामी? इस विवाद का कारण भी विरुद्ध धर्मों का एकत्र समावेश न होना तथा संस्काराधान की संगति न बैठना ही है। यह पहले विस्तारपूर्वक दिखा चुके हैं। उनका **परिशेष न्याय** से अपने-अपने पक्ष में किस प्रकार समर्थन किया गया है, वह भी दिखा दिया गया है। पूर्व उक्त सभी दर्शनों का निष्पक्ष, गुणग्राही, उदार हृदय से विचार करने पर समन्वय की निम्नलिखित तीन दृष्टियाँ फलित होती हैं—

१—सभी ने देह आदि अनात्मवर्ग से पृथक् आत्मसत्ता को स्वीकार किया है।

२—सभी ने मुक्ति-अवस्था में राग-द्वेष आदि दोषों से रहित आत्मा को स्वीकार किया है।

३—सभी ने अपने-अपने पक्ष की सिद्धि पहले तो अनुभव से तथा अनुभव अनुकूल युक्तियों से की है, फिर अन्तिम स्थलों में **परिशेष न्याय** से की है।

पहली दृष्टि संसार से वैराग्य कराती है और अनेकानेक दुःख कारणों को शिथिल करती है, जिससे साधन-अवस्था में बहुत ही सहायता मिलती है तथा मनुष्य मुक्ति की प्राप्ति के लिए उन्मुख हो जाता है। कारण कि देह आदि अनात्मा को आत्मा मानने के कारण ही मनुष्य संसार में आसक्त होता है। इस सांसारिक आसक्ति के कारण ही मनुष्य अनेक-अनेक दुःखों का भाजन होता है तथा मुक्तिरूप पुरुषार्थ से वंचित रह जाता है।

दूसरी दृष्टि के अनुसार मुक्ति-अवस्था में आत्मा में राग-द्वेष आदि दोषों का सर्वथा अभाव है। अतः वहाँ दुःख की उत्पत्ति हो ही नहीं सकती, जिससे मुक्तिरूप पुरुषार्थ में मनुष्य की परम आस्था उत्पन्न हो जाती है।

तीसरी दृष्टि सभी दर्शनों को अनुभूतिमूलक तथा युक्तिमूलक बतलाती है, एवं बुद्धि का सामर्थ्य कितना है, यह भी प्रदर्शित करती है। इससे परपक्ष का आदर, स्वपक्ष में स्थिति एवं

दुराग्रह का अभाव हो जाता है। जिसके फलस्वरूप समन्वय-दृष्टि का उदय हो जाता है। कारण कि सभी वादियों ने सार्वजनिक निर्विवाद स्पष्ट अनुभूतियों का ही भिन्न-भिन्न प्रक्रियाओं से विश्लेषण किया है। उस विश्लेषण में युक्ति एवं अनुभूति का सर्वत्र आदर किया गया है। जहाँ जाकर मनुष्य की बुद्धि का सामर्थ्य आगे विचार करने में कुंठित हो जाता है; वहाँ अगत्या = अन्य कोई गति न होने के कारण ही मान्यता रूप से कुछ स्वीकार किया है। साधु शांतिनाथ, राहुल सांकृत्यायन आदि कुछ विद्वान् इस मान्यता को भी अंधविश्वास ही मानते हैं, इसलिए 'सभी शास्त्र अंधविश्वासी पाखंडियों के बनाए हुए हैं' ऐसा कहकर वे शास्त्रों की निंदा करते हैं।

परिशेष न्याय अन्धविश्वास नहीं

जहाँ आगे विचार करने के लिए अवकाश होने पर भी विचार नहीं किया जाता ऐसे अर्धविचारित, अविचारित या विचारविरुद्ध सिद्धांत को दूराग्रहपूर्वक पकड़कर मान लिया जाता है, वहीं अंधविश्वास कहना ठीक है। पूर्ण विचार करके अगत्या या परिशेष न्याय से मान्यतारूप में जो ग्रहण किया जाता है वह तो विचार की अंतिम परिणति है। उसे अंधविश्वास कहना किसी प्रकार भी उचित नहीं।

सूचना—इस तथ्य की आवृत्ति सभी प्रकरणों में अवश्य कर लेनी चाहिए। अन्यथा पृथ्वी, जल, उष्णता आदि में तथा उनके

संयोग में भी अंकुर-जनन शक्ति न देखकर **परिशेष न्याय** से बीज में ही अंकुर-जनन शक्ति मानना भी अंधविश्वास कहा जायगा। साधु शांतिनाथ तथा राहुलजी ने जिस भौतिक विज्ञान को बहुत आदर दिया है एवं प्रामाणिक माना है, उस विज्ञान में भी शब्द की गति के लिए अगत्या ईथर नामक तत्त्व माना गया है। अतः भौतिक विज्ञानशास्त्र भी अंधविश्वासी पाखंडियों की देन सिद्ध हो जायगा। तब उसका समर्थक भी उसी कोटि का क्यों न होगा?

उक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि देह आदि अनात्मवर्ग से सर्वथा भिन्न स्थिर आत्मसत्ता सभी वादियों को मान्य है। इसलिए आत्मसत्ता के विषय में सभी दर्शनों का समन्वय हो सकता है। इसमें कुछ भी विरोध नहीं आता। मुख्य समस्या संस्काराधान की है। अस्थिर = क्षणिक, परिणामी स्थिर, अपरिणामी स्थिर, इन तीनों पक्षों में संस्काराधान का समाधान **परिशेष न्याय** को छोड़कर साक्षात् नहीं दिया जा सकता। इसलिए प्रायः सभी ने ऐसे स्थलों में निम्नलिखित श्लोक में कथित सिद्धान्त को स्वीकार किया है।

यत्रोभयोः समो दोषः परिहारश्च तादृशः।
नैकः पर्यनुयोक्तव्यः तादृगर्थविचारणे॥

(श्लोकवार्तिकशून्यवादे २५२)

अर्थ—जो दोष और उसका समाधान दोनों पक्षों में एक-से हों, उस विषय में एक पक्ष को ही समाधान देने के लिये बाध्य नहीं किया जा सकता।

सारांश

यद्यपि सभी पक्षों में इस प्रकार युक्ति, अनुभूति एवं परिशेष न्याय समानरूप से प्राप्त हैं, तो भी साधक को स्वसंस्कारों की प्रबलता के कारण जो पक्ष रुचिकर एवं अनुकूल प्रतीत हो उसीका अवलंब लेकर देह आदि अनात्मपदार्थों से सर्वथा भिन्न आत्मतत्त्व का साक्षात्कार कर लेना ही उपयोगी है। उसके बाद निष्पक्ष गुणग्राहक दृष्टि से अन्य शास्त्रों का अध्ययन करना चाहिए। समन्वय-दृष्टि का यह गुर हाथ में आ जाने पर परस्पर कुछ भी विरोध नहीं दिखाई देगा। अन्यथा परिणाम यह होगा कि किसी भी शास्त्र पर श्रद्धा न बैठने के कारण आत्मसाक्षात्कार से विमुख हो जाना पड़ेगा, जिससे संसारसागर के चक्कर में पड़कर नाना प्रकार के दुःख उठाने पड़ेंगे।

किसी एक प्रक्रिया के द्वारा आत्मसाक्षात्कार हो जाने पर भी जब तक अन्य शास्त्रों का पूर्व उक्त दृष्टि से अध्ययन नहीं किया जायगा तब तक अन्य दर्शनों की युक्तियुक्तता तथा स्वशास्त्र में भी अपरिहार्य न्यूनता का बोध नहीं होगा। स्वपक्ष के संस्कारों की प्रबलता के कारण अपने पक्ष की श्रेष्ठता का आग्रह बना ही रहेगा। फल यह होगा कि दूसरों के खंडन करने की प्रवृत्ति बनी ही रहेगी। किन्तु जब निष्पक्ष गुणग्राहक दृष्टि से सभी शास्त्रों का अध्ययन कर लेते हैं तब साधकों का चित्त सुसम = सम्यक् शान्त हो जाता है। वे सब शास्त्रों का समान आदर करने लग जाते हैं तथा अपने सिद्धांत में भी शान्त एवं स्थिर हो जाते हैं।

यच्छून्यवादिनां शून्यं ब्रह्म ब्रह्मविदां वरम्।
विज्ञानमात्रं विज्ञान-विदां यदमलं पदम्।
आत्माऽऽत्मनस्तद् विदुषां नैरात्म्यं तादृशात्मनाम्।
मध्यं माध्यमिकानां च सर्वं सुसमचेतसाम्॥

(योगवासिष्ठ, उपशमप्रकरण ८७।१८,२०)

अर्थ—जो शून्यवादियों का शून्य है, वही ब्रह्मवादियों का ब्रह्म है, वही विज्ञानवादियों का विशुद्ध विज्ञान है, वही आत्मवादियों का आत्मा है, वही निरात्मवादियों का निरात्मतत्त्व है, वही माध्यमिकों का मध्यम तत्त्व है, तथा वही सुसम चित्तवालों के लिए सर्वरूप है।

सूचना—आत्म-चित्ता, आत्म-आनन्दता आदि सभी प्रकरणों में भी इस सारांश की पुनरावृत्ति अवश्य कर लेनी चाहिए।

आत्मसत्ता, आत्मचित्ता तथा आत्म-आनंदता आदि में जो खंडन-मंडन चलता है उसका मुख्य कारण यह है कि जिस दर्शन ने जिस प्रक्रिया द्वारा सार्वजनिक अनुभूति का विश्लेषण आरंभ किया है तथा अंत में अगत्या जो स्वीकार किया है, उस दर्शन की उस प्रक्रिया की उपेक्षा करके प्रतिवादी अगत्या स्वीकृत सिद्धांत पर ही आक्षेप करते हैं। यद्यपि स्वपक्ष में भी=स्वसिद्धांत में भी वैसे स्थल आते ही हैं, तो भी वे उन स्थलों को अपने ग्रन्थों में उठाते ही नहीं। यदि उठाते हैं तो मूल की ओर से उत्तर न देकर अपनी प्रक्रिया का प्रदर्शन करके ही उत्तर देते हैं,

अथवा प्रतिवादी के पक्ष में तत्सम दोष प्रदर्शित करके स्वपक्ष का समर्थन मान लेते हैं। तटस्थ विचारक की दृष्टि जब इस बात को सभी दर्शनों में स्पष्ट ग्रहण कर लेती है तथा 'बुद्धि का सामर्थ्य इतना ही है, इससे अधिक नहीं' इस सत्य का ही नहीं, किंतु परम सत्य का ज्ञान प्राप्त कर लेती है, तब समन्वय-दृष्टि का उदय हो जाता है।

अतिविचारणीय प्रश्न—एक परम आवश्यक विचारणीय प्रश्न यह है कि उक्त किसी भी प्रक्रिया से आत्मसत्ता का देह आदि अनात्मपदार्थों से सर्वथा भिन्नरूप में बोध हो जाने पर तथा समन्वय-दृष्टि का गुर हाथ में आ जाने पर भी एक प्रश्न शेष रह ही जाता है कि "यह सब तो केवल बौद्धिक निर्णयरूप अनुमान ही हुआ, प्रत्यक्ष अनुभव नहीं। वर्तमान में 'मैं हूँ' जैसे यह स्पष्ट प्रत्यक्ष अनुभव होता है वैसे 'अनंत भूत में 'मैं' था, अनंत भविष्य में 'मैं' रहूँगा' ऐसा प्रत्यक्ष अनुभव तो हुआ ही नहीं।"

इसका एक उत्तर यह है कि बाह्य-इन्द्रियों के प्रत्यक्ष के योग्य वस्तु का भी प्रत्यक्ष ज्ञान केवल वर्तमान काल में ही होता है, क्योंकि प्रत्यक्ष केवल वर्तमानग्राही ही होता है। भूत और भविष्य में बाह्य इन्द्रियग्राह्य वस्तु की सत्ता का होना भी स्मृति और युक्ति से बौद्धिक निर्णयरूप अनुमान से ही होता है। अतः बाह्य-इन्द्रियों के प्रत्यक्ष के अयोग्य आत्मसत्ता के विषय में यदि भूत-भविष्य विषयकज्ञान अनुमान द्वारा ही होता हो तो उसमें क्या आश्चर्य है?

इसीलिए अद्वैतसिद्धि के प्रथम परिच्छेद के आविद्यकरजत उत्पत्ति-प्रकरण में स्पष्ट कहा है–'**अपरोक्षप्रतीत्या तावत् त्रिकालाबाध्यत्वरूपंतात्त्विकत्वं विषयी कर्तुं न शक्यते**'।

दूसरा उत्तर यह है कि यद्यपि प्रत्यक्ष ज्ञान के करणों से होने-वाले प्रत्यक्ष ज्ञानों के आकार-प्रकार एक समान नहीं होते; तो भी वे सभी प्रत्यक्ष ज्ञान ही कहे जाते हैं। जैसे लोक में बाह्यकरण नेत्र से घर की दूरता-समीपता लम्बाई-चौड़ाई-सहित रूप का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। परंतु बाह्यकरण होने पर भी घ्राण से गंध मात्र का ही ग्रहण होता है, दूरता-समीपता का ग्रहण नहीं होता। अन्तः-करणरूप मन के द्वारा सुख-दुःख का जैसा प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, अन्तःकरणरूप बुद्धि से बाह्य पदार्थों के परिवर्तन का ज्ञान वैसा नहीं होता, तो भी परिवर्तनशीलता के ज्ञान को लोक-व्यवहार में प्रत्यक्ष ज्ञान ही माना जाता है। कारण कि असंदिग्ध अबाधित अतिस्पष्ट ज्ञान का नाम ही प्रत्यक्ष ज्ञान है। यह लक्षण नेत्र-प्रत्यक्ष-ज्ञान से लेकर बौद्धिकप्रत्यक्षज्ञान तक सभी में घट जाता है। इस-लिए परिवर्तनशीलता के ज्ञान को प्रत्यक्षज्ञान स्वीकार करना उचित ही है।

इसी प्रकार बाह्य-इन्द्रियों की अगोचर-आंतर-आत्मसत्ता की देह आदि अनात्मपदार्थों से विविक्तता का तथा त्रिकालाबाधितरूप स्थिरता का असंदिग्ध अबाधित अतिस्पष्ट ज्ञान बुद्धि से होता ही है; इसलिए 'वह भी प्रत्यक्ष ही है, अनुमान ज्ञान नहीं', यह स्वीकार करना ही चाहिए। अन्यथा नेत्र आदि करणजन्य प्रत्यक्षज्ञानों

का आकार-प्रकार एक समान न होने के कारण परस्पर आहत हो करके (टकरा करके) उनकी भी प्रत्यक्षता का उच्छेद हो जायगा। अतः जिस वस्तु का जिस प्रत्यक्ष करण से जैसा प्रत्यक्षज्ञान होता है उसे वैसा ही स्वीकार करना चाहिए।

'दृश्यते त्वग्र्यया बुद्धया' 'मनसैवानु द्रष्टव्यम्' 'बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्' 'यह आत्मा सूक्ष्म बुद्धि से ही देखा जाता है, मन से ही इसका दर्शन करना चाहिए, इसका बुद्धि से ही ग्रहण होता है, इन्द्रियों से ग्रहण नहीं होता' आदि श्रुति-स्मृतियों में आत्मतत्त्व का साक्षात्कार बुद्धि द्वारा ही बताया गया है, बाह्यइन्द्रियों द्वारा नहीं बताया गया तथा मनुष्य के पास ज्ञान का सर्वोत्तम साधन बुद्धि ही है। अतः यदि बौद्धिक निर्णयरूप ज्ञान को प्रत्यक्षज्ञान नहीं स्वीकार किया जायगा तो अन्य किस करण विशेष से आत्मा के प्रत्यक्षज्ञान को आशा की जा सकती है ? जब इस बात पर विचार करते हैं तब उक्त प्रश्न स्वयं समाहित हो जाता है।

सूचना—इस बौद्धिक निर्णयरूप प्रत्यक्षज्ञान की भी पुनरावृत्ति आत्मा की चित्ता, आनंदता, अणुता, विभुता, कर्तृता, भोक्तृता आदि प्रसंगों में भी अवश्य कर लेनी चाहिए।

—

आत्मचिन्ता का विचार

उपक्रम—स्व का तथा पर का अतिस्पष्ट ज्ञान सभी को होता है, अतः 'मैं चेतन हूँ, जड़ नहीं' इसमें किसी को भी संदेह नहीं होता। यह चेतनता क्या आत्मा के नित्यज्ञानरूप होने के कारण है? या आत्मा के अनित्यज्ञानरूप होने के कारण है? अथवा नित्यज्ञानगुणयोगी होने के कारण है? या अनित्यज्ञानगुणयोगी होने के कारण है? यह बात स्पष्ट न होने से दार्शनिकों ने सर्वमान्य अतिस्पष्ट जाग्रत-स्वप्न-अवस्था के ज्ञानों का तथा सुषुप्तिकालिक अस्पष्ट या अनुमित ज्ञानों का भिन्न-भिन्न प्रक्रियाओं से युक्ति और अनुभूति का आश्रय लेकर ही विश्लेषण किया है। बाद में उन्होंने परस्पर विरुद्ध एवं विलक्षण निर्णय दिये हैं। पहले उन सभी का संक्षिप्त विवेचन करके फिर उनमें किस प्रकार समन्वय विद्यमान है, यह दिखाने की चेष्टा की जायगी।

चारभूतजन्य ज्ञान

चार्वाक का कहना है कि चेतनता-रहित चार भूतों के विशेष संमिश्रण से वैसे ही चेतनता की उत्पत्ति हो जाती है जैसे मादकता-रहित मादकता के उपादानकारण अन्न, जल आदि पदार्थों के विशेष संमिश्रण से मादकता की उत्पत्ति हो जाती है।

परंतु सभी दार्शनिकों ने चेतनता-रहित भूतों के विशेष संमिश्रण से चेतनता की उत्पत्ति को असंभव बताकर इस पक्ष का एक स्वर से खंडन किया है। मादकता के उपादानकारण अन्न आदि में भी सूक्ष्मरूप से मादकता पहले से ही विद्यमान रहती है, यह बात भोजन के बाद उत्पन्न होनेवाले आलस्य से सभी को अनुभव-सिद्ध है, इसलिए मादकता का दृष्टांत देना भी युक्तियुक्त नहीं। इस प्रकार चार्वाक के मत का खंडन करके अपने-अपने सिद्धांत का प्रतिपादन करते हैं।

आत्ममनःसंयोगजन्य ज्ञान

न्याय-वैशेषिक तथा पूर्वमीमांसा का कहना है कि जाग्रत् और स्वप्न में जब मन का प्रगट रूप में सद्भाव रहता है तब ज्ञान उत्पन्न होता है, सुषुप्ति में मन का प्रगट रूप में सद्भाव नहीं होता इसलिए ज्ञान भी नहीं होता। इस अन्वय-व्यतिरेक से स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि ज्ञान आत्मा और मन के संयोग से उत्पन्न होता है। उसी ज्ञानगुण के कारण आत्मा में चेतनता है; चेतनरूप होने के कारण चेतनता नहीं।

वेदान्ती—'मैं सुखपूर्वक सोया, मुझे कुछ भी पता नहीं चला' यह स्मरण सुषुप्ति से उठने के बाद जाग्रत् में होता है। स्मरण अपने जनक संस्कार के बिना नहीं हो सकता, संस्कार स्वजनक ज्ञान के बिना नहीं होता। इस प्रकार जाग्रत्कालिक स्मरण से सुषुप्ति में भी ज्ञान सिद्ध हो जाता है, इसलिए सुषुप्ति में ज्ञान नहीं रहता, यह कहना बनता नहीं।

नैयायिक—आपकी यह आपत्ति भी कुछ मूल्य नहीं रखती, कारण कि स्मरण संस्कार-मूलक होता है, जन्य ज्ञान के विनष्ट हो जाने पर ज्ञाता में ही संस्कार का आधान होता है, यही प्रक्रिया सर्वमान्य है। इस प्रक्रिया के अनुसार सुषुप्ति के अवभासक नित्यज्ञानरूप साक्षी के ज्ञान का नाश आपके मत में संभव नहीं, इसलिए संस्कारों का आधान ही नहीं हो सकता।

वेदान्ती—साक्षी को अविद्यावृत्ति के द्वारा सुषुप्ति का ज्ञान होता है, उस अविद्यावृत्ति के नष्ट हो जाने पर संस्कारों का आधान हो जाता है, यह हमारी मान्यता है। इसलिए आपका यह आक्षेप करना उचित नहीं।

नैयायिक—आपके इस कथन में भी कुछ सार नहीं, कारण कि 'अविद्यावृत्ति के नाश से संस्कारों का आधान हो सकता है' यह मान लेने पर भी संस्कारों का आधान साक्षी में ही मानना पड़ेगा, क्योंकि संस्कारों का आधान प्रकाशक में = ज्ञाता में ही होता है। इसे मान लेने पर आत्मा की कूटस्थ-ज्ञानरूपता अवश्य ही भंग हो जायगी, जो आपको कदापि अभिमत नहीं। दूसरी बात यह भी है कि सुषुप्ति में अविद्यावृत्ति रहती है, इसमें क्या प्रमाण है? यदि आप कहें कि स्मरण अपने जनक संस्कारों के बिना नहीं हो सकता तथा संस्कारों का आधान वृत्तिज्ञान के बिना संभव नहीं, यह अन्यथा अनुपपत्ति ही सुषुप्ति में अविद्या-वृत्ति के होने में प्रमाण है, तो यह कहना भी ठीक नहीं, कारण कि इसमें अन्योन्याश्रय दोष आता है। 'मैं सुखपूर्वक सोया, मुझे

कुछ पता नहीं चला' यह उत्थानकालिक वृत्ति जब स्मरणरूप सिद्ध हो जाय तब स्मरण के जनक संस्कार और संस्कारों की जनक अविद्यावृत्ति सुषुप्ति में सिद्ध होगी। उस अविद्यावृत्ति की सिद्धि हो जाने पर अविद्यावृत्तिजन्य संस्कार तथा संस्कारजन्य स्मृति की सिद्धि होगी।

वेदान्ती—'मैं सुख से सोया, मुझे कुछ पता नहीं चला' इस स्मरण की अन्यथा अनुपपत्ति से हम सुषुप्ति में नित्यज्ञान की सिद्धि नहीं करते; किन्तु केवल ज्ञानमात्र की सिद्धि करते हैं। जब 'घटज्ञान, पटज्ञान, जाग्रत्-ज्ञान, स्वप्न-ज्ञान, सुषुप्ति-ज्ञान' आदि अनुभवों में ज्ञान की अनुगतता और विषयों की तथा अवस्थाओं की व्यावृत्तता पर विचार करते हैं तब ज्ञान की एकता तथा नित्यता सिद्ध होती है। इस प्रक्रिया से ज्ञान की नित्यता सिद्ध करने में 'संस्कारों का आधान कहाँ होगा?' यह प्रश्न हो नहीं उठ सकेगा।

नैयायिक—आपका यह कथन भी ठीक नहीं। दीप-प्रकाश के सम्मुख क्रमशः घट, पट आदि पदार्थों के आने पर 'घटप्रकाश, पट-प्रकाश' ऐसा कहा जाता है। जैसे यहाँ प्रकाश की अनुगतता प्रतीत होने पर भी वह अनुगतता प्रकाशत्व जाति के कारण ही है, प्रकाश की एकता या नित्यता के कारण नहीं। वैसे ही 'घटज्ञान, पटज्ञान' में ज्ञान की अनुगतता ज्ञानत्व जाति के ही कारण है, ज्ञान की एकता या नित्यता के कारण अनुगतता नहीं।

वेदान्ती—तेल और बत्ती का नाश हो जाने से तथा दीप-शिखा के परिमाण में भेद होने से प्रकाश का भेद अनुमान-प्रमाण से सिद्ध है। अतः अनुमान प्रमाण के बाधक होने के कारण घट-प्रकाश और पटप्रकाश में भेद मानना तो ठीक है, परंतु घटज्ञान, पटज्ञान आदि स्थलों में कोई बाधक न होने के कारण ज्ञान की अनुगतता एकता के कारण ही है।

नैयायिक—आपके इस कथन में भी कुछ सार नहीं। 'ज्ञानत्व जाति के कारण ही अनुगतता की प्रतीति हो रही है' इस बाधक का निराकरण किए बिना 'कोई बाधक है नहीं' यह कहना केवल साहसमात्र है। दूसरी बात यह है कि बाधक के अभाव मात्र से ही स्वपक्ष की सिद्धि नहीं हो जाती; किंतु स्वपक्ष की सिद्धि में साधक प्रमाण भी देना चाहिए। अन्यथा तुल्ययुक्ति होने के कारण घट-अज्ञान, पट-अज्ञान में भी अनुगत अज्ञान की एकता और नित्यता स्वीकार करनी होगी तथा घट-इच्छा, पट-इच्छा आदि स्थलों में अनुगत इच्छा आदि को भी एक एवं नित्य सिद्ध किया जा सकेगा।

यदि कहें कि इच्छा तथा अज्ञान का विनाश तो सब के अनुभव से सिद्ध है, तो 'घटज्ञान नष्ट हो गया, पटज्ञान नष्ट हो गया', इन प्रयोगों से ज्ञान का विनाश भी सब के अनुभव से सिद्ध है। यदि कहें कि 'घटज्ञान नष्ट हो गया' यहाँ विषयरूप घट के नाश का ज्ञान में उपचारमात्र = आरोपमात्र होता है, वस्तुतः ज्ञान का नाश नहीं होता। तो यह कथन भी ठीक नहीं, क्योंकि 'घट इच्छा नष्ट हो गयी' में भी घट का ही नाश होता है और उसका

आरोप इच्छा में होता है, वास्तव में इच्छा का नाश नहीं होता, ऐसा तुल्य न्याय से मानना पड़ेगा। इसलिए जब तक किसी स्वतंत्र प्रमाण से ज्ञान की नित्यता तथा एकता सिद्ध न कर दी जाय तब तक ज्ञान की उक्त अनुगतता के बल से ज्ञान की नित्यता तथा एकता सिद्ध नहीं की जा सकती।

वेदान्ती—वृत्तिरूप अनित्य ज्ञानों की उत्पत्ति और विनाश का अनुभव होता है। अतः इन अनित्य ज्ञानों के भाव और अभाव का प्रकाशक नित्यज्ञान अवश्य स्वीकार करना चाहिए।

नैयायिक—यह कथन भी ठीक नहीं, कारण कि ज्ञान के अभाव का अनुभव भी ज्ञानरूप प्रतियोगी के स्मरणपूर्वक ही होगा, और स्मरण संस्कारवान् को ही होता है, इसलिए ज्ञान के अभाव का प्रकाशक जो नित्यज्ञान है, उसे संस्काररूप विकार से युक्त ही मानना होगा। संस्काररूप विकार कूटस्थ निर्विकार ज्ञान का विरोधी है, वह आपको मान्य नहीं हो सकता।

वेदान्ती—हम ज्ञान के अभाव को अभावरूप नहीं मानते, किंतु भावरूप अज्ञान मानते हैं। अतः प्रतियोगीरूप ज्ञान के स्मरण की आवश्यकता न होने के कारण संस्कार आदि का दोष प्राप्त नहीं होता।

नैयायिक—यह कहना भी ठीक नहीं। 'घटविषयक अज्ञान नष्ट हो गया' 'आत्मविषयक अज्ञान नष्ट हो गया' इस प्रतीति से भावरूप अज्ञान के भी नाशरूप अभाव का अनुभव होता ही है। अभाव का अनुभव प्रतियोगी के स्मरणपूर्वक ही होता है, इस नियम के

अनुसार भावरूप अज्ञान का स्मरण यहाँ भी मानना ही होगा। स्मरण संस्कारपूर्वक ही होता है, अतः संस्काराधान के दोष से बचाव नहीं हो सकता।

वेदान्ती—अनित्य वृत्तिज्ञानों का तथा सुख-दुःख आदि का प्रकाशक साक्षी तो नित्यज्ञानरूप ही है, इसलिए नित्यज्ञान का नाश तो संभव नहीं, तो भी प्रकाश्य सुख आदि के नाश से तत्प्रकाशक नित्यज्ञान में नाश का कथन आरोपमात्र है।

नैयायिक—यह कहना भी उचित नहीं, कारण कि अभी तक तो नित्यज्ञान ही सिद्ध नहीं हुआ, अतः 'नित्यज्ञान में नाश का कथन आरोपमात्र है', यह कैसे कहा जा सकता है? यदि थोड़ी देर के लिए नित्यज्ञान मान भी लें तो संस्कारों का आधान कहाँ होगा? और कैसे होगा? इस मुख्य प्रश्न का समाधान कुछ भी नहीं हो सकेगा। क्योंकि प्रकाश्य सुख आदि के नाश से प्रकाशक नित्यज्ञान में नाश का आरोपमात्र होता है अर्थात् प्रकाशक नित्यज्ञान का वस्तुतः नाश होता ही नहीं, तब तो प्रकाशक-ज्ञान-नाशपूर्वक होनेवाले संस्कारों का आधान ही नहीं हो सकेगा। संस्कारों के बिना स्मरण नहीं होगा, और प्रतियोगी सुख आदि के स्मरण बिना सुख आदि के अभाव का अनुभव भी नहीं हो सकेगा, परन्तु सुख आदि के अभाव का अनुभव सबको होता ही है, इसका अपलाप नहीं हो सकता। सुखाकार, घटाकार वृत्तियों के नाश से ज्ञान में नाश का उपचार मान-कर संस्काराधानपूर्वक सुखादि स्मृति की संगति लगाने पर अति-

प्रबल दुर्निवार्य यह आपत्ति होती है कि वृत्तिसामान्याभाव के अनुभव तथा स्मरण की संगति किसी प्रकार भी न हो सकेगी। कारण यह है कि वृत्तिसामान्याभाव का अनुभव यदि किसी वृत्ति-पूर्वक माना जाय तो वृत्तिसामान्याभाव ही न रह सकेगा। यदि वृत्ति बिना ही माना जाय तो वृत्तिनाश से ज्ञाननाश का उपचार भी संभव न हो सकने से संस्काराधान तथा स्मृति भी संभव न होगी, इसलिए उक्त प्रकारों से भी नित्यज्ञान सिद्ध नहीं होता।

वेदान्ती—ज्ञान के विनाश का अनुभव किसने किया? यदि कहें कि विनाश का अनुभव ज्ञान ने किया तो ज्ञान के विनाश का अनुभव करनेवाले ज्ञान के विद्यमान होने पर ज्ञान का विनाश कहाँ हुआ? यदि ज्ञान के विनाश का अनुभव किसीने नहीं किया तो ज्ञान स्वयं नित्य सिद्ध हो गया।

नैयायिक—ये युक्तियाँ भी ठीक नहीं, क्योंकि 'घटज्ञान अब नहीं रहा' इस प्रतीति से ज्ञान का विनाश सबके अनुभव से सिद्ध है, अतः नित्यज्ञान के सिद्ध न होने के कारण **परिशेष न्याय** से ज्ञान को अनित्य ही मानना चाहिए।

गुणरूप नित्यज्ञान

वैष्णवमत—श्रीरामानुज आदि वैष्णव आचार्यों का कहना है कि ज्ञानरहित आत्मा तथा ज्ञानरहित मन के संयोग से ज्ञानगुण की उत्पत्ति मानना वैसा ही है जैसा ज्ञानरहित भूतों के संयोग से ज्ञान की उत्पत्ति मानना। इसलिए ज्ञान का जन्य सिद्ध नहीं किया

जा सकता, अतः **परिशेष न्याय** से ज्ञान को नित्य ही मानना चाहिए। श्रुति में भी कहा है–**"न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते"** अर्थात् द्रष्टा की दृष्टि का = ज्ञान का लोप = नाश नहीं होता। ज्ञान के नित्य होने पर भी सुषुप्ति में ज्ञान की अभिव्यक्ति के साधन न होने के कारण ही ज्ञान का स्पष्ट भान नहीं होता। स्पष्ट भान न होने मात्र से सुषुप्ति में ज्ञान का अभाव सिद्ध नहीं हो सकता। यह ज्ञानगुण संकोच-विकासशील है, अतः शरीरव्यापी सुख-दुःख (आराम-कष्ट) का ज्ञान तुरंत हो जाता है। ज्ञानरूप अणु आत्मा इसी ज्ञान के कारण पदार्थों को विशेषरूप से जानता है। आत्मा का स्वरूपभूत ज्ञान तो आत्मा की सिद्धि में अन्य की सापेक्षता का तथा जड़ता का निराकरणमात्र करता है।

जैनमत—जैन-दार्शनिकों ने भी कथञ्चित् नित्यज्ञानगुण को स्वीकार किया है, उस ज्ञानगुण को वे निराकार मानते हैं। ज्ञान निराकार होने पर भी अपनी प्रकाश-योग्यता मात्र से ही बाह्य-आंतर एवं व्यवहित-अव्यवहित पदार्थों को प्रकाशित करता है। पदार्थों को प्रकाशित करने के लिए ज्ञान को पदार्थों से संबंधित होने की आवश्यकता नहीं, अन्यथा योगियों को भूत और भविष्य की वर्तमान में अविद्यमान वस्तुओं का प्रत्यक्ष नहीं हो सकेगा। यदि कहें कि पदार्थों से संबंधित हुए बिना ही ज्ञान पदार्थों का प्रकाशन कर सकता है, तो सभी को सब पदार्थों का ज्ञान होना चाहिए? इस शंका का समाधान यह है कि जनसाधारण का ज्ञान नाना प्रकार के प्रतिबंधकों से प्रतिबद्ध रहता है। उन प्रतिबंधकों

को दूर करने के लिए ही इन्द्रिय, प्रकाश, अव्यवधान, तपस्या आदि की आवश्यकता पड़ती है। इन साधनों से प्रतिबन्ध-रहित ज्ञान जब किसी पदार्थ को प्रकाशित करता है तब 'घटज्ञान' 'पटज्ञान' आदि पर्यायों में = अवस्थाओं में परिणत हो जाता है। इस प्रकार ज्ञान-गुण कथंचित् नित्य तथा परिणामी सिद्ध होता है।

क्षणिक ज्ञान

बौद्धमत = बौद्धों का कहना है कि सर्वथा नित्य कूटस्थ ज्ञान में प्रकाशकत्वरूप क्रिया भी संभव नहीं हो सकती, कारण कि क्रिया का होना तथा स्थिर कूटस्थ = नित्य बना रहना, ये दोनों परस्पर विरोधी होने से एक साथ नहीं रह सकते। अतः जैन-दार्शनिकों का ज्ञान को नित्य तथा परिणामी उभयरूप मानना भी ठीक नहीं। परिणामिता = परिवर्तनशीलता सूक्ष्म विचार करने पर क्षणिकता में ही पर्यवसित होती है। अतः **परिशेष न्याय** से प्रकाशक ज्ञान क्षणिक ही है, ऐसा मानना चाहिए। इन ज्ञान के अतिरिक्त कोई आत्मा उपलब्ध न होने के कारण क्षणिक ज्ञान को ही आत्मा मानना चाहिए, उसे आत्मा का गुण कहना उचित नहीं। यह ज्ञान साकार ही है, अन्यथा निराकार मानने पर सभी ज्ञानों से सभी पदार्थों के प्रकाशित होने की आपत्ति होगी।

आत्मरूप नित्यज्ञान

सांख्य-योग-वेदान्तमत—सांख्य, योग और वेदांत का कहना है कि वैष्णवों का संकोच-विकास तथा जैनियों का पर्याय =

परिणाम, नित्यता का विरोधी होने के कारण नित्य एक ज्ञान में दोनों का समावेश करना ठीक नहीं। "जाग्रत् और स्वप्न-अवस्था में आत्मा और मन का संयोग रहने पर ज्ञान होता है तथा सुषुप्ति में आत्मा और मन का संयोग न रहने पर ज्ञान नहीं होता, इस अन्वय-व्यतिरेक से ज्ञान जन्य ही सिद्ध होता है, नित्य सिद्ध नहीं होता"। न्याय, वैशेषिक एवं मीमांसक का यह कहना भी ठीक नहीं, कारण कि जागने पर 'मैं सुखपूर्वक सोया' यह स्मरण सबको होता है, स्मरण अनुभूत पदार्थ का ही होता है, इस प्रकार सुषुप्ति में सुषुप्ति का अनुभव करनेवाला ज्ञान विद्यमान है, यह अवश्य मानना ही पड़ेगा। इसलिए 'सुषुप्ति में ज्ञान नहीं रहता' उनका यह कथन ठीक नहीं।

यदि सुषुप्ति की सिद्धि किसी अनुमान प्रमाण से करेंगे तो उस अनुमान के पक्ष और हेतु की सिद्धि भी करनी पड़ेगी। यदि उस पक्ष और हेतु की सिद्धि किसी दूसरे अनुमान प्रमाण से करेंगे तो अनवस्था दोष उपस्थित होगा। यह भी प्रश्न उठता है कि 'सुषुप्ति में ज्ञान का अभाव होता है' यह आपने कैसे जाना ? यदि किसी ज्ञान के द्वारा जाना तो सुषुप्ति में उस ज्ञान के विद्यमान होने पर ज्ञान का अभाव कहना बनता नहीं।

नैयायिक—यदि सुषुप्ति में होनेवाले ज्ञान के अभाव को सुषुप्ति-काल में ही किसी ज्ञान के द्वारा जाना जाता है, ऐसा हम मानें तो उक्त दोष हो सकता है। हम तो जाग्रत्-अवस्था में अनुमान करते हैं कि सुषुप्ति में कोई भी ज्ञान नहीं होता, कारण कि उस

काल में किसी प्रकार का व्यवहार नहीं होता। 'सुषुप्तिर्ज्ञानहीना व्यवहाराभावात् मूर्च्छावत्'।

वेदान्ती—आपका यह अनुमान भी ठीक नहीं, क्योंकि सुषुप्ति में कोई भी व्यवहार नहीं होता, यह आपने कैसे जाना? इस प्रश्न के उत्तर में व्यवहार के अभाव के साधक किसी ज्ञान को सुषुप्ति में स्वीकार करेंगे तो उस ज्ञान के सद्भाव से ही ज्ञानाभावरूप साध्य का अभाव सिद्ध हो जाने के कारण आपका हेतु बाध-हेत्वाभास दोष से ग्रस्त हो जायगा।

नै०—सुषुप्ति में व्यवहाराभाव को भी हम अनुमान द्वारा सिद्ध करते हैं, अतः उक्त दोष उपस्थित नहीं होगा। सुषुप्ति में कोई भी व्यवहार नहीं होता, यदि होता तो उसका स्मरण भी अवश्य होता। 'सुषुप्तिर्व्यवहारहीना स्मरणाभावात् मूर्च्छावत्'।

वे०—आपके इस अनुमान का हेतु व्यभिचार दोष से दुष्ट है, क्योंकि बाल्य-अवस्था में अनुभूत अनेक पदार्थों का तथा प्रतिदिन के अनेक उपेक्षणीय पदार्थों का ज्ञान होने पर भी उनका स्मरण नहीं होता। किसी प्रकार सुषुप्ति में व्यवहाराभाव सिद्ध कर भी लिया जाय तो भी उससे ज्ञान का अभाव सिद्ध नहीं हो सकेगा, क्योंकि उपेक्षणीय वस्तुओं का ज्ञान सभी के मत में व्यवहार का सम्पादक नहीं होता। अतः 'यत्र यत्र ज्ञानं तत्र तत्र व्यवहारः' जब यह निर्दोष व्याप्ति ही नहीं, तब व्याप्तिरहित हेतु से साध्य की सिद्धि कैसे होगी?

नै०—हम दूसरे प्रकार से सुषुप्ति में ज्ञान के अभाव को सिद्ध करेंगे, अतः उक्त दोष नहीं होंगे। 'सुषुप्तिर्ज्ञानहीना ज्ञानसामग्र्यभावात्' = सुषुप्ति में ज्ञान नहीं रहता, क्योंकि ज्ञान की सामग्री का (आत्मा, मन, इन्द्रिय आदि के संयोग का) अभाव होने से।

वे०—अन्योन्याश्रय दोष के कारण यह भी ठीक नहीं, क्योंकि सुषुप्ति में ज्ञान की सामग्री का अभाव, ज्ञान के अभाव की सिद्धि होने पर होगा और ज्ञान का अभाव, ज्ञान की सामग्री के अभाव से सिद्ध होगा।

सबका सारांश यह निकला कि सुषुप्तिरूप पक्ष, व्यवहाराभावरूप हेतु या सामग्री-अभावरूप हेतु आदि का साधक कोई ज्ञान यदि सुषुप्ति-काल में सिद्ध है, तो उसी ज्ञान से ज्ञानाभावरूप साध्य का निराकरण हो जाता है, जिससे हमारा पक्ष ही सिद्ध होता है। यदि उक्त पक्ष और हेतु किसी ज्ञान से सिद्ध नहीं होते तो आपका अनुमान आश्रय-असिद्धि और हेतु-असिद्धिरूप हेत्वभासों से युक्त होने के कारण आपके पक्ष की असिद्धि करेगा। अतः **परिशेष न्याय** से सुषुप्ति में भी ज्ञान का सद्भाव सिद्ध हो जाने से तथा ज्ञान का अभाव किसी अवस्था में किसी के द्वारा अनुभव न किया जा सकने से, ज्ञान को नित्य ही मानना चाहिए, क्योंकि किसी ज्ञान से ही ज्ञान का अभाव अनुभव किया जा सकेगा, ज्ञान के अभाव का अनुभव करनेवाले ज्ञान के विद्यमान होने पर ज्ञानाभाव कहाँ हुआ?

यह नित्यज्ञान आत्मा का स्वरूप ही है, आत्मा का गुण नहीं। क्योंकि ज्ञानरूप आत्मा से ही सब प्रकार की संगतियाँ लग जाने के

कारण ज्ञानरूप आत्मा से पृथक् गुणरूप नित्यज्ञान या गुणरूप अनित्यज्ञान मानने की आवश्यकता नहीं। क्षणिक ज्ञानों की उत्पत्ति और विनाश की सिद्धि के लिए भी अक्षणिक नित्यज्ञान मानना ही पड़ेगा। न्यायदर्शन ने एक अनित्यज्ञान की सिद्धि दूसरे अनित्य-ज्ञान से की है एवं बौद्ध-दर्शन ने क्षणिक ज्ञान को स्वसंवेद्य माना है, इनके मत का विशेष निराकरण ज्ञान के स्वतःप्रकाश-परतः-प्रकाश-प्रकरण में करेंगे।

प्रकाश्य पदार्थों की अपेक्षा से नित्य प्रकाशस्वरूप सूर्य में जैसे प्रकाशकत्व का उपचार मात्र होता है; वैसे ही ज्ञानरूप आत्मा में भी प्रकाशकत्व का उपचार मात्र ही होता है। वास्तव में सूर्य की भाँति आत्मा में भी प्रकाशकत्वरूप क्रिया का कर्तृत्व है ही नहीं, जिसके कारण आत्मा को स्थिर मानने में कोई बाधा उपस्थित हो, या कर्तृ-कर्मरूप विरोध हो।

—

आत्मचिन्ता-समन्वय

उक्त विवेचन का ध्यानपूर्वक अध्ययन-मनन-परिशीलन करने पर स्पष्ट प्रतीत होता है कि सभी के पक्ष युक्ति और अनुभूति से युक्त हैं। अंतिम स्थलों में जहां बुद्धि कुंठित हो जाती है, वहाँ अगत्या कुछ-न-कुछ सभी ने स्वीकार किया ही है। निष्पक्ष विचार करने पर निम्नलिखित तथ्य उपलब्ध होते हैं।

१—बाह्य अनात्मविषय-अवभासक स्पष्ट वृत्तिरूप सविशेष ज्ञान मन, इन्द्रिय आदि सहयोगी सामग्री होने पर ही होते हैं और इस सहयोगी सामग्री के न होने पर वे ज्ञान नहीं होते।

२—आत्मा चाहे ज्ञानरूप हो, चाहे नित्यज्ञानगुणयुक्त हो या अनित्यज्ञानगुणयुक्त हो अथवा उभयात्मक हो, सभी पक्षों में केवल आत्मा से अनात्मवस्तुओं का स्पष्ट-अवभास नहीं होता।

केवल आत्मा से अनात्म पदार्थों का स्पष्ट-अवभास मानने पर सदा-सर्वदा सर्वज्ञता की आपत्ति होती है, सर्व अनुभव विरुद्ध होने से उसे स्वीकार नहीं किया जा सकता। अतएव अद्वैतसिद्धि द्वितीय परिच्छेद के 'ब्रह्मणो ज्ञानत्वादि विचार' प्रकरण में स्पष्ट कहा है—**'तथा च दृग्रूपस्यापि उपाधिना द्रष्टृत्वम्'**। शतदूषणी के मुक्तसंविद् निर्विषयकत्ववाद प्रकरण में भी कहा है—**'अस्माकमात्मस्वरूपस्य प्रतीचः कदाचिदपि बाह्यार्थगोचरत्वानभ्युपगमात्'**।

३—अंतिम समस्या का समाधान परिशेष न्याय से ही सब करते हैं।

प्रथम तथ्य के अनुसार जिन दार्शनिकों ने आत्मा को ज्ञान-रूप, या नित्यज्ञानगुणयुक्त स्वीकार किया है, उन्होंने मन, इन्द्रिय आदि सामग्री को विशेष ज्ञान की अभिव्यंजक माना है, जो ठीक ही है। कारण कि ज्ञान को नित्य मान लेने पर इन्द्रिय आदि सामग्री से नित्यज्ञान को विशेषरूप में अभिव्यक्ति ही होगी, उत्पत्ति नहीं। जिन दार्शनिकों ने आत्मा को ज्ञानरूप नहीं माना उन्होंने मन, इन्द्रिय आदि सामग्री को विशेष ज्ञान का जनक माना है, उनका वैसा मानना भी ठीक ही है, कारण कि आगन्तुक विशेष ज्ञान की उत्पत्ति ही होती है, अभिव्यक्ति नहीं होती। यही दोनों में अन्तर है।

द्वितीय तथ्य के अनुसार जब केवल आत्मा से किसी अनात्म वस्तु का स्पष्ट-प्रकाश होता ही नहीं तब उसे ज्ञानरूप क्यों माना जाय? इस प्रश्न के उत्तर में ज्ञानरूप आत्मवादियों का स्पष्ट कहना है कि यदि आत्मा को ज्ञानरूप न माना जायगा तो पाषाण आदि की भाँति जड़ता की प्राप्ति होगी। यहाँ हमारा निवेदन है कि जैसे आत्मा को ज्ञानरूप मान लेने से जड़ता की प्राप्ति का निवारण हो जाता है, वैसे ही आत्मा में ज्ञान-प्रागभाव की अधिकरणता या ज्ञान-अत्यंताभाव की अनधिकरणता मान लेने से भी जड़ता की प्राप्ति का निवारण हो ही जाता है, क्योंकि जड़ पाषाण आदि में कभी भी ज्ञान की उत्पत्ति न होने के कारण ज्ञान-

प्रागभाव - अधिकरणता तथा ज्ञान - अत्यंताभाव - अनधिकरणता कभी नहीं रहती। दूसरी बात यह है कि आत्मा शब्द का प्रयोग ही अनात्म जड़ पदार्थों का निराकरण स्वशक्तिवृत्ति से ही कर देता है। इस दृष्टि से देखें तो आत्मा को ज्ञानरूप मानना तथा ज्ञानरूप न मानना आपाततः जैसा परस्पर विरुद्ध प्रतीत होता है, वस्तुतः वैसा विरुद्ध है नहीं। एक ही आत्मतत्त्व को अपनी-अपनी परिभाषा के अनुसार विरुद्ध-जैसे प्रतीत होनेवाले पृथक्-पृथक् शब्दों से कहा गया है। उस-उस परिभाषा पर थोड़ा-सा ध्यान देने से समन्वय स्पष्ट दिखाई देने लगता है। देखिये–

आत्मा को ज्ञानरूप न माननेवाले दार्शनिकों ने बाह्य वस्तु के स्पष्ट अवभासक वृत्तिज्ञानस्थानीय विशेष ज्ञान को ही ज्ञान शब्द का वाच्य अर्थ माना है। ऐसा ज्ञान सुषुप्ति में न रहने के कारण वे लोग आत्मा को ज्ञानरूप नहीं मानते। सुषुप्ति में उक्त पारिभाषिक वृत्तिरूप विशेष ज्ञान का अभाव तो आत्मा को ज्ञानरूप माननेवाले सांख्य, योग और वेदान्त को भी मान्य है ही, इसलिए उनके साथ विरोध नहीं आता। आत्मा को ज्ञानरूप माननेवालों ने जड़ता के व्यावर्तक जिस सामान्य ज्ञान को सुषुप्ति, समाधि, मूर्च्छा और मुक्ति में माना है। वह सामान्य ज्ञान, आत्मा को ज्ञानरूप न माननेवालों के यहाँ ज्ञान-प्रागभाव, ज्ञान-योग्यता एवं ज्ञान-शक्ति के रूप में मान्य है ही। उक्त परिभाषाओं पर ध्यान देने से ज्ञान की उत्पत्ति तथा ज्ञान की अभिव्यक्ति शब्दों का स्वारस्य = रहस्य भी स्पष्ट हो जाता है। 'बाह्य वस्तु का स्पष्ट

अवभासक वृत्तिरूप विशेषज्ञान सदा नहीं रहता' यह तो सर्व-सम्मत है ही। न्याय, वैशेषिक एवं मीमांसक वृत्तिज्ञान स्थानीय विशेष-ज्ञान को ही ज्ञान शब्द का वाच्य अर्थ मानते हैं, अतः उन लोगों का 'ज्ञान की उत्पत्ति ही होती है, अभिव्यक्ति नहीं होती' यह कहना ठीक ही है। सांख्य, योग एवं वेदांत जड़ता व्यावर्तक सामान्य ज्ञान को भी ज्ञान शब्द का वाच्य अर्थ मानते हैं, अतः उन लोगों का ज्ञान की अभिव्यक्ति ही होती है, उत्पत्ति नहीं होती' यह कहना भी ठीक ही है। इस प्रकार शाब्दिक विरोध होने पर भी वस्तुस्थिति में कुछ भी विरोध नहीं आता।

क्षणिक विज्ञानवादी भी वस्तु-अवभासक वृत्तिरूप विशेषज्ञान को ही क्षणिक कहते हैं। उक्त प्रकार से उस ज्ञान में क्षणिकता तथा जन्यता सभी को मान्य है ही। रही बात उस क्षणिक ज्ञान के अतिरिक्त आत्मा न मानने की। इस विषय में पहले कहा जा चुका है कि बौद्ध भी मूर्च्छा, सुषुप्ति और समाधि में आत्मा का सद्भाव दिखाने के लिए 'अहं अहं' रूप आलयविज्ञान को स्वीकार करते ही हैं तथा मुक्ति में आत्मा का सद्भाव स्वीकार करने के लिए निर्मल विशुद्ध ज्ञान मानते ही हैं। देखिए 'आत्मसत्तासमन्वय' शीर्षक।

तृतीय तथ्य के अनुसार न्याय आदि के जन्य ज्ञानगुण मत में सुषुप्ति में ज्ञानाभाव-साधक अनुमान के सुषुप्तिरूप पक्ष की व्यव-हाराभाव और ज्ञान-सामग्री का अभावरूप हेतुओं की सिद्धि कैसे? वैष्णव एवं जैन के अजन्य ज्ञानगुण मत में क्रमशः संकोचविकास-

शील और पर्याय = परिणामशील होने पर भी ज्ञानगुण नित्य कैसे? क्षणिक ज्ञान आत्मवादी बौद्ध-मत में संस्काराधान कैसे? कूटस्थ ज्ञानरूप आत्मवादी सांख्य-योग-वेदांत के मत में सुषुप्ति में भी ज्ञान को सिद्ध करनेवाले उत्थानकालिक स्मरण के कारणभूत संस्कारों का आधान कूटस्थ ज्ञानरूप आत्मा में कैसे? इत्यादि प्रश्नों का समाधान समुचितरूप से न हो सकने के कारण या तो वे लोग इन प्रश्नों को उठाते ही नहीं, यदि उठाते हैं तो दूसरों के पक्षों में दोष दिखाकर प्रतिवादी का मुखमुद्रण मात्र करके **परिशेष न्याय** से अपने पक्ष की सिद्धि हो गयी, ऐसा मानकर संतोष कर लेते हैं। यह **परिशेष न्याय** अंधविश्वास नहीं [देखिए इसी नाम का शीर्षक]।

अतिविचारणीय प्रश्न—यहाँ भी यह प्रश्न पैदा होता है कि उक्त प्रकार से समन्वय-दृष्टि का उदय होने पर भी ज्ञान की नित्यता या अनित्यता का प्रत्यक्ष तो होता ही नहीं, केवल बौद्धिक निर्णयरूप अनुमान ही होगा। सत्ता प्रकरण की भाँति यहाँ भी इस प्रश्न का उत्तर दो प्रकार से दिया जा सकता है—

१—नेत्र आदि इन्द्रियगम्य सूर्य-चन्द्र आदि पदार्थों की लोक-दृष्टि से नित्यता = स्थिरता = उत्पत्तिरहितता तथा घट आदि पदार्थों की अनित्यता = अस्थिरता = उत्पत्तिशीलता का प्रत्यक्ष भी नेत्र आदि इन्द्रियों से नहीं हो सकता, बौद्धिक निर्णयरूप अनुमान द्वारा ही होता है। कारण कि नेत्र द्वारा हमें सूर्य-चन्द्र आदि के पिंड का ही साक्षात्कार = प्रत्यक्ष होता है, उनकी अनुत्पत्ति-

शीलता = नित्यता का प्रत्यक्ष नहीं होता। उसका निर्णय तो सूर्य-चन्द्र आदि की उत्पत्ति के साधनों के अभाव से अथवा 'ये वे ही सूर्य-चन्द्र हैं' इस प्रत्यभिज्ञा के आधार पर बुद्धि द्वारा ही करते हैं। एवं नेत्र आदि प्रमाण द्वारा घट-पट आदि के भी आकारों का ही प्रत्यक्ष होता है, उनकी अनित्यता = उत्पत्तिशीलता का प्रत्यक्ष नहीं होता। उसका निर्णय तो उनके प्रागभाव, परिवर्तनशीलता तथा विनाश के आधार पर बौद्धिक निर्णयरूप अनुमान द्वारा ही करते हैं। जब नेत्र आदि इन्द्रियरूप प्रत्यक्ष-प्रमाणगम्य पदार्थों की भी नित्यता और अनित्यता का प्रत्यक्ष नहीं होता, केवल बौद्धिक निर्णयरूप अनुमान ही होता है, तब नेत्र आदि इन्द्रिय-प्रमाण-अगम्य (अगोचर) ज्ञानरूप पदार्थ की नित्यता और अनित्यता का प्रत्यक्ष न होता हो, उसे बौद्धिक निर्णयरूप अनुमान द्वारा ही जाना जा सके तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है ?

२—दूसरा उत्तर यह है कि सत्ता-समन्वय-प्रकरण में लिखित रीति के अनुसार असंदिग्ध, अबाधित, अतिस्पष्ट ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं। इस परिभाषा के अनुसार बौद्धिक निर्णयरूप ज्ञान भी प्रत्यक्ष कोटि में आ जाता है। अतः ज्ञान की नित्यता और अनित्यता के बौद्धिक निर्णय को भी नित्यता और अनित्यता का प्रत्यक्ष कहा जा सकता है।

सूचना—इन दोनों प्रश्न-उत्तरों की आवृत्ति सभी प्रकरणों के अन्त में कर लेनी चाहिए।

—

ज्ञान की स्वतःप्रकाशता-परतःप्रकाशता

उपक्रम—ग्रन्थ के आरंभ में दिए हुए उपक्रम के अनुसार आत्मसत्ता का तथा आत्मचित्ता का विचार कर लेने के बाद आत्मा की आनंदता का विचार ही प्रसंगप्राप्त था। उस पर विचार न करके ज्ञान की स्वतःप्रकाशता और परतःप्रकाशता तथा ज्ञान की स्वतःप्रमाणता और परतःप्रमाणता पर विचार ज्ञान के प्रसङ्ग से किया जा रहा है। ये दोनों विषय भी महत्त्वपूर्ण एवं बहुत ही आवश्यक हैं, इसलिए आत्मा की चित्ता के बाद इनका विचार कर लेना उचित एवं प्रसंगानुकूल ही है।

ज्ञान-अनुमेयवाद

कुमारिल भट्ट का कहना है कि जब 'यह घट है' ऐसा ज्ञान हमें होता है तब उस ज्ञान से केवल घट का ही प्रकाश होता है, स्वयं उस ज्ञान का प्रकाश नहीं होता, यानी वह ज्ञान केवल घट को ही प्रकाशित करता है, स्वयं को प्रकाशित नहीं करता। 'वह ज्ञान स्वयं को भी प्रकाशित करता है' ऐसा मानने में प्रथम तो उक्त अनुभव से विरोध होगा, पुनः युक्ति से भी विरोध होगा। कारण कि वही ज्ञान प्रकाशक हो और वही ज्ञान स्वयं से प्रकाश्य हो, यह मान लेने पर कर्तृ-कर्म-विरोध होगा। यदि उस ज्ञान को प्रकाशित करने के लिए उससे भिन्न कोई दूसरा ज्ञान स्वीकार किया जाय और वह ज्ञान भी जन्य हो, तो वे दोनों जन्य ज्ञान एक साथ तो

होंगे नहीं, किन्तु क्रमशः ही होंगे, यही मानना होगा। प्रकाश्य-प्रथमज्ञान के नष्ट हो जाने पर उत्पन्न हुआ प्रकाशक द्वितीय-ज्ञान, प्रथमज्ञान को कैसे प्रकाशित करेगा ? कारण कि प्रकाश्य और प्रकाशक का युगपद् = एक काल में होना अनिवार्य होता है।

इसी प्रकार द्वितीयज्ञान का प्रकाशक कोई अनित्य तृतीय-ज्ञान स्वीकार कर लिया जाय तो अनवस्था दोष उपस्थित हो जायगा। 'ज्ञान का ज्ञान, ज्ञान का ज्ञान' इस रूप में ज्ञान की धारा प्रवाहित होते रहने के कारण सुषुप्ति का अभाव होगा, तथा अन्य ज्ञानों के उदय का अवसर उपस्थित न होने के कारण व्यवहार का भी उच्छेद हो जायगा।

उक्त दोषों से बचने के लिए यदि किसी ज्ञान को अंतिम ज्ञान मान लिया जाय और उसे बिना किसी के द्वारा प्रकाशित हुए ही स्वयंप्रकाश स्वीकार कर लिया जाय तो प्रथमज्ञान को ही स्वयंप्रकाश मान लेने में लाघव है, उतनी दूर दौड़ लगाने की क्या आवश्यकता है ? परंतु कर्तृ-कर्म-विरोध होने के कारण किसी भी ज्ञान को स्वयंप्रकाश माना नहीं जा सकता।

यदि प्रथम उत्पन्न घटज्ञान का प्रकाशक कोई नित्यज्ञान स्वीकार कर लिया जाय तो वह भी ठीक नहीं होगा, कारण कि नित्यज्ञान की प्रथम तो सिद्धि ही नहीं की जा सकती। किसी प्रकार सिद्धि कर लेने पर भी उसे परप्रकाश मानने में अनवस्था दोष और स्वयंप्रकाश मानने में कर्तृ-कर्म-विरोध होगा ही। अतः परिशेष न्याय से ज्ञान को अनुमेय ही स्वीकार करना चाहिए।

अज्ञातघट में प्रथम ज्ञातता उत्पन्न होती है, यह ज्ञाततारूप कार्य अपने कारण ज्ञान की सत्ता को अनुमान द्वारा सिद्ध करता है। इस प्रकार ज्ञान का अनुमान ही होता है, प्रत्यक्ष नहीं। ज्ञातता स्वप्रकाश (सर्वथा असंदिग्ध) होने से उसकी सिद्धि के लिए किसी अन्य ज्ञान की आवश्यकता न होने के कारण अनवस्था आदि दोष भी उपस्थित नहीं होंगे।

ज्ञान-परप्रकाशवाद

न्याय-वैशेषिक का कहना है कि—यद्यपि 'यह घट है' यह व्यवसायात्मक ज्ञान केवल घट को ही प्रकाशित करता है स्वयं को नहीं, तथापि 'मुझे घट का ज्ञान हुआ' 'मैं घट-ज्ञानवान् हूँ' इत्याकारक द्वितीय अनुव्यवसायात्मक ज्ञान से उल्लिखित व्यवसायात्मक ज्ञान का प्रत्यक्ष होता है। इसी प्रकार द्वितीयज्ञान का तृतीयज्ञान से, तृतीयज्ञान का चतुर्थज्ञान से प्रकाश होता है। दो-चार कक्षाओं में ही जिज्ञासा निवृत्त हो जाती है, व्यवहार में यह सब के अनुभव से सिद्ध है। अतः ज्ञान को धारा न चलने के कारण अनवस्था, अन्यज्ञानाभावहेतुक व्यवहाराभाव, सुषुप्ति-अभावरूप दोषों का प्रसंग ही प्राप्त नहीं होता। अंतिम ज्ञान अन्य ज्ञान से प्रकाशित हुए बिना ही पूर्व ज्ञान को प्रकाशित करने में वैसे ही समर्थ है जैसे इन्द्रियाँ अन्य से प्रकाशित हुए बिना ही पदार्थों को प्रकाशित कर देती हैं। ज्ञानफल ज्ञातता को स्वप्रकाश और ज्ञान को अनुमेय मानना तो केवल अपना उपहास कराना है। ज्ञान को

स्वयंप्रकाश मानने में कुमारिल भट्ट कथित कर्तृ-कर्म-विरोधरूप दोष होगा ही। यदि कहा जाय कि स्वयंप्रकाश शब्द का अर्थ अपने-आपको जानना नहीं, किन्तु स्व के प्रकाश में अन्य प्रकाश की अपेक्षा न होना ही है, अतः कर्तृ-कर्म-दोष न होगा। यह कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि यहाँ यह प्रश्न होता है कि अन्य प्रकाश के बिना कैसे उसका प्रकाश हो जाता है? इसके उत्तर में यह कहने पर कि वह प्रकाशरूप होने के कारण स्वयं प्रकाशित हो जाता है, तो यह उत्तर कर्तृ-कर्म-दोष को पुनः ला देगा। अतः परिशेष न्याय से ज्ञान को परप्रकाश मानना ही ठीक है।

पूर्व उत्पन्न ग्राह्य ज्ञान और उत्तर उत्पन्न ग्राहक ज्ञान एक काल में न रहने से उनमें ग्राह्य-ग्राहकभाव कैसे होगा? इस शंका का समाधान न्यायभाष्य-वार्तिक में इस प्रकार किया है कि युगपद् दो ज्ञान उत्पन्न तो नहीं हो सकते, किन्तु युगपद् दो ज्ञान रह सकते हैं। [देखिए न्यायभाष्य-वार्तिक ३।२।२४]+अन्य आचार्यों ने यह समाधान दिया है कि विनश्यत् अवस्थापन्न प्रथम-ज्ञान को द्वितीयज्ञान ग्रहण कर सकता है, क्योंकि न्यायमत में बुद्धि को अन्य पदार्थों की अपेक्षा आशुतर विनाशी होने से ही क्षणिक माना गया है। बौद्धों की भाँति उत्पन्न होते ही विनष्ट होना रूप-क्षणिकता न्याय-शास्त्र को किसी भी पदार्थ में मान्य नहीं।

ज्ञान-स्वप्रकाशवाद

बौद्ध दार्शनिक आत्मरूप-क्षणिक-विज्ञान को प्रभाकर आत्म-आश्रित-क्षणिक-विज्ञान को, जैन आत्मगुणक-कथञ्चित्-नित्य-

पर्यायशील-ज्ञान को; वैष्णव ज्ञानरूपआत्मगुणक-संकोच-विकास-शील-नित्यज्ञान को तथा सांख्य-योग-वेदांत आत्मरूपनित्य-कूटस्थ-ज्ञान को स्वप्रकाश कहते हैं। इनके मत संक्षेप में प्रदर्शित करके तदनंतर परप्रकाश पक्ष के खंडन की और स्वप्रकाश पक्ष के मंडन की युक्तियाँ दिखाएँगे।

बौद्धमत—बौद्धों का कहना है कि क्षण-क्षण में उत्पन्न-विनष्ट होनेवाले घटज्ञान, पटज्ञान से भिन्न नित्यज्ञान अनुभव में नहीं आता, अतः उसे मानना ठीक नहीं। यदि कहें कि ज्ञान की उत्पत्ति और विनाश का अनुभव स्वतः क्षणिक ज्ञान से संभव नहीं, इसलिए क्षणिक ज्ञान की उत्पत्ति और विनाश का अनुभव करनेवाला नित्यज्ञान मानना चाहिए। ऐसा कहना भी ठीक नहीं, कारण कि किसी वस्तु की उत्पत्ति का या भाव का अनुभव करके कालान्तर में उसी वस्तु का स्मरण आने पर योग्य-अनुपलब्धि द्वारा उस वस्तु के विनाश का या अभाव का ज्ञान होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि अभाव का ज्ञान प्रतियोगी-स्मरणपूर्वक ही होता है, यह नियम सर्वमान्य है। इस नियम के अनुसार ज्ञानाभाव का अर्थात् ज्ञान के विनाश का ग्रहण उसके प्रतियोगी ज्ञान के स्मरणपूर्वक ही मानना होगा। स्मरण संस्कार-मूलक होता है, और संस्कार का आधान अनुभविता में ही होता है, यह नियम भी सर्वमान्य है। इस नियम के अनुसार पूर्व उत्पन्न क्षणिक ज्ञान को अनुभव करनेवाले नित्यज्ञान में ही संस्कार का आधान मानना होगा, तभी वह नित्यज्ञान पूर्व उत्पन्न अनित्यज्ञान के स्मरण-

पूर्वक उसके प्रध्वंसाभाव को ग्रहण कर सकेगा। परंतु क्षणिक ज्ञान को अनुभव करनेवाले नित्यज्ञान का नाश न होने से संस्काराधान संभव ही नहीं, क्योंकि ज्ञान के विनष्ट हो जाने पर ही सस्कार का आधान होता है तथा संस्काराधान सर्वथा नित्य कूटस्थ ज्ञान में हो ही नहीं सकता।

इन दोषों से बचने के लिए यदि उस नित्यज्ञान को जैनमतानुसार पर्यायशील या वैष्णवमतानुसार संकोच-विकासशील मान लें, तो यह भो ठीक नहीं। पर्यायशीलता तथा संकोच-विकासशीलता भी रहे और नित्यता भी रहे—यह कदापि सम्भव नहीं, कारण कि इनका परस्पर विरोध है। उक्त पर्यायशोलता या संकोच-विकास-शीलता प्रथम तो नित्यता-स्थिरता को भंग करके अनित्यता-अस्थिरता को सिद्ध करती हुई क्षणिकता में ही पर्यवसित होगी। अतः कूटस्थ नित्य ज्ञान से या परिणामी नित्य ज्ञान से तथा द्वितीय क्षणिक ज्ञान से भी प्रथम उत्पन्न क्षणिक ज्ञान का प्रकाश न हो सकने के कारण क्षणिक ज्ञान को **परिशेषतः** स्वप्रकाश ही मानना चाहिए।

प्रभाकरमत—प्रभाकर का कहना है कि बौद्धों के क्षणिक विज्ञान को स्वप्रकाश मानना तो ठीक है, परंतु जो उन्होंने उसे ही आत्मा मान लिया वह ठीक नहीं, कारण कि जिस क्षणिक विज्ञान ने पदार्थ का अनुभव किया वह तो विनष्ट हो गया और जिस क्षणिक विज्ञान ने उसका स्मरण किया उसने अनुभव ही नहीं किया। अनुभव तथा स्मरण एक ही अधिकरण में होते हैं अर्थात्

जो अनुभव करता है वही स्मरण भी करता है, यही नियम है। जब अनुभव करनेवाला विज्ञान विद्यमान होता है तब जिस ज्ञान में संस्कार का आधान करना है वह तो अभी उत्पन्न ही नहीं हुआ और जब वह उत्पन्न होता है तब संस्कार का आधान करनेवाला पूर्व ज्ञान रहता ही नहीं = विनष्ट हो जाता है। एक काल में दोनों ज्ञान न होने के कारण पूर्व ज्ञान उत्तर ज्ञान में संस्कार का आधान नहीं कर सकेगा। इसलिए संस्कार का आधार आत्मा क्षणिक-विज्ञान से भिन्न ही स्वीकार करना चाहिए। 'मैं घट को जानता हूँ' इस अनुभव में ज्ञान घट को स्वविषयरूप में तथा आत्मा को स्व-आश्रयरूप में प्रकाशित करता हुआ स्वयं को भी प्रकाशित करता है।

जैनमत—जैनों का कहना है कि ज्ञान आत्मा के आश्रित है और आत्मा का गुण है तथा स्वप्रकाश है, मीमांसा का यह कथन तो सर्वथा युक्तियुक्त है, किन्तु उसे अनित्य मान लेना किसी प्रकार भी ठीक नहीं। कारण कि अनित्य ज्ञान की उत्पत्ति किससे होती है ? इस प्रश्न का उत्तर समुचितरूप से नहीं दिया जा सकता। ज्ञानहीन आत्मा के तथा ज्ञानहीन मन के संयोग से ज्ञानगुण की उत्पत्ति मानना वैसा ही अयुक्त है जैसा ज्ञानहीन जड़ भूतों के संयोग से ज्ञान की उत्पत्ति मानना। इसलिए ज्ञान को परिशेषतः स्वप्रकाश कथंचित् नित्य ही मानना चाहिए। कथंचित् स्वप्रकाश नित्यज्ञान के विद्यमान होने पर भी घट आदि पदार्थों के कभी प्रकाशित होने और कभी प्रकाशित न होने में यह कारण है कि

इन्द्रिय, प्रकाश आदि ज्ञान-प्रतिबंधनिवारक साधन कभी विद्यमान होते हैं और कभी विद्यमान नहीं होते। जब उनके सहयोग से ज्ञान घटाकार, पटाकार आदि पर्यायों को प्राप्त होता है, तभी घट-पट आदि पदार्थों का प्रकाश होता है और आत्मा उनका प्रकाशक = ज्ञाता कहलाता है। पर्यायशील होने के कारण ज्ञान को कथञ्चित् नित्य मानना चाहिए, सर्वथा नित्य मानना ठीक नहीं।

वैष्णवमत—वैष्णवों का कहना है कि जैनों का ज्ञान को नित्य मानना तो ठीक है, किंतु उसे पर्यायशील = परिणामी मानना ठीक नहीं, कारण कि ये दोनों परस्पर विरोधी होने के कारण एकत्र नहीं रह सकते। इसी प्रकार केवल ज्ञानगुण को ही स्वयंप्रकाश मानना और आत्मा को ज्ञानरूप स्वयंप्रकाश न मानना भी ठीक नहीं, कारण कि इसका अर्थ तो यह होगा कि 'अज्ञानरूप = अ-स्वप्रकाश आत्मा के आश्रित स्वप्रकाश ज्ञानगुण रहता है', किन्तु ऐसा मानना उपहासास्पद है। अतः **परिशेषन्याय** से स्वयंप्रकाश-ज्ञानरूप अणु आत्मा के आश्रित स्वयंप्रकाश नित्यज्ञानगुण रहता है, यही स्वीकार करना चाहिए।

श्रुति का भी कथन है—'**नहि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते**' = द्रष्टा = आत्मा की दृष्टि = ज्ञान का कभी विनाश नहीं होता। यह ज्ञानगुण स्वभावतः विकसित = व्यापक होने पर भी अनादि प्राचीन कर्मरूप अविद्यावशात् संकोच को प्राप्त हो जाता है, इसीलिए जीव अल्पज्ञ हो जाता है। मुक्तिकाल में उक्त कर्म

रूप अविद्या के नष्ट हो जाने पर ज्ञान की स्वाभाविक विकास-अवस्था का आविर्भाव हो जाता है, तब जीव में सर्वज्ञता आदि गुण भी प्रकट हो जाते हैं। उक्त सर्वज्ञता तथा अल्पज्ञता की संगति नित्यज्ञानगुण को संकोच-विकास-शील माने बिना अन्य प्रकार से उपपन्न नहीं हो सकती, अतः ज्ञान को संकोच-विकास-शील अवश्य मानना चाहिए। इन्द्रिय, प्रकाश आदि ज्ञान-अभि-व्यंजक सामग्री के भाव तथा अभाव से नित्यज्ञानगुण विद्यमान होने पर भी कभी पदार्थ का प्रकाशित होना और कभी प्रकाशित न होना भी युक्तियुक्त ही है।

इसी ज्ञानगुण के माध्यम से आत्मा पदार्थों का ज्ञाता होता है। आत्मा का स्वरूपभूत स्वयंप्रकाश ज्ञान तो स्वसिद्धि में अन्य की निरपेक्षता तथा अनात्म जड़ पदार्थों से पृथक्ता मात्र करता है अर्थात् आत्मा के स्वरूपभूत ज्ञान से अन्य पदार्थों का बोध नहीं होता। आत्मा का गुणरूप ज्ञान संकोच-विकास-क्रिया का आश्रय होने से द्रव्यरूप है तथा सदा आत्मा के आश्रित रहने के कारण गुणरूप भी है।

सांख्य-योग-वेदान्तमत—सांख्य, योग एवं वेदांत का कहना है कि जैनियों की पर्यायशीलता की भाँति वैष्णवों को संकोच-विकास-शीलता भी अनित्य पदार्थों का ही धर्म होने के कारण नित्य-ज्ञान में उसे मानना ठीक नहीं। एक ही वस्तु द्रव्य भी हो और गुण भी हो, यह कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होता। इसमें दीपक एवं दीपक की प्रभा का दृष्टांत देना भी ठीक नहीं, कारण कि

विरल-अवयवतेज द्रव्य ही प्रभा (प्रकाश) शब्द से कहा जाता है और घन-अवयवतेज द्रव्य ही दीपक कहलाता है। यदि प्रभा गुण होती तो अपने आश्रय दीपक से भिन्न प्रदेश में उपलब्ध न होती, कारण कि गुण सदा गुणो के ही आश्रित रहता है।

गंध गुण स्व-आश्रय से भिन्न प्रदेश में भी रहता है, यह दृष्टांत देना भी ठीक नहीं, कारण कि वहाँ भी गंध के आश्रय द्रव्य के सूक्ष्म अवयव रहते ही हैं। यदि ऐसा न होता तो कपूर आदि द्रव्यों की मात्रा न्यून न होती। यदि कहें कि चन्दन आदि पदार्थों में से गंध गुण के निरन्तर निकलते रहने पर भी चन्दन आदि पदार्थों की मात्रा न्यून नहीं होती, तो यह कहना ठीक नहीं क्योंकि कपूर के दृष्टांत से चन्दन आदि में भी न्यून मात्रा का अनुमान किया जा सकता है। अति अल्पमात्रा में न्यूनता आने के कारण वह तुला से तोली नहीं जा सकती, इसीसे भ्रम होता है कि चन्दन की मात्रा कम नहीं होती। नित्य स्वयंप्रकाश ज्ञानरूप आत्मा को स्वीकार करके तत्सदृश नित्य स्वयंप्रकाश ज्ञानगुण को स्वीकार करने का कोई प्रयोजन ही नहीं रह जाता। पदार्थों के कभी प्रकाशित होने की और कभी न होने की संगति तो इन्द्रिय, मन आदि सामग्री के भाव और अभाव से ही हो जायगी। अतः परिशेषतः नित्य स्वयंप्रकाश ज्ञान को आत्मरूप ही मानना चाहिए। लाघव होने के कारण भी यही पक्ष मानना उचित है।

उक्त मतों में ज्ञान की क्षणिकता, गुणता, नित्यता एवं आत्म-

रूपता के विषय में मतभेद होने पर भी ज्ञान को सभी ने स्वयंप्रकाश ही माना है। अतः वे सभी 'ज्ञान-परप्रकाश' वादियों के मत का तथा 'ज्ञान-अनुमेयवाद' का निराकरण करते हुए कहते हैं कि ज्ञान चाहे आत्मरूप हो, चाहे गुणरूप हो, परन्तु ज्ञान को अनुमेय कहना सर्वथा उपहास के योग्य है। ज्ञान की कार्य ज्ञातता को तो स्वयंप्रकाश स्वीकार करना तथा स्वयंप्रकाश-ज्ञातता के कारण ज्ञान को अनुमेय = अ-स्वप्रकाश मानना सर्वथा अनुचित है। ज्ञान के परप्रकाश पक्ष में भी अनवस्था दोष का समुचित समाधान नहीं हो सकता, कारण कि यदि किसी को शंका होती ही चली जाय तो वह दो-चार कोटि में शांत कैसे हो जायगी? अतः अनवस्था, अन्य के ज्ञान का भाव, तज्जन्य व्यवहाराभाव एवं सुषुप्ति का अभावरूप दोष होंगे ही। 'दो ज्ञान एक साथ उत्पन्न तो नहीं हो सकते, किन्तु दो ज्ञान एक साथ रह सकते हैं, इसलिए प्रकाश्य और प्रकाशक भाव बन जायगा'—न्याय-भाष्य-वार्तिक-कार का यह कथन भी समीचीन नहीं, कारण कि सभी न्याय-ग्रन्थों में उत्तरवर्ती आत्मगुणज्ञान आदि की उत्पत्ति से पूर्ववर्ती आत्मगुणज्ञान आदि का विनाश स्वीकार किया है। अतः युगपत् (एक साथ) न रह सकने के कारण यदि अन्तिम किसी ज्ञान को स्वप्रकाश मानेंगे तो व्यर्थ इतनी दौड़-धूप करने की क्या आवश्यकता है? प्रथम ज्ञान को ही स्वप्रकाश मान लेना चाहिए।

स्वयं अप्रकाशित रहकर अन्य को प्रकाशित करने में इन्द्रियों का दृष्टांत देना भी ठीक नहीं, कारण कि इन्द्रियाँ स्वयं किसी

पदार्थं को प्रकाशित नहीं करतीं। इन्द्रियाँ तो पदार्थप्रकाशक ज्ञान को उत्पन्न या अभिव्यक्त करने में सहयोगी कारणमात्र हैं। लोक में स्वप्रकाश दीपक आदि ही अ-स्वप्रकाश घट-पट आदि को प्रकाशित करते देखे जाते हैं। इसलिए स्वप्रकाश ज्ञान ही अ-स्व-प्रकाश पदार्थों को प्रकाशित करने में समर्थ हो सकता है, अ-स्वप्रकाश समर्थ नहीं हो सकता। ज्ञान से व्यतिरिक्त संपूर्ण पदार्थ तो अ-स्वप्रकाश हैं ही, यदि ज्ञान को भी स्वप्रकाश नहीं माना जायगा तो जगदान्ध्यप्रसङ्ग की प्राप्ति होगी। इसलिए ज्ञान को स्वप्रकाश ही मानना चाहिए, नहीं तो लोक के व्यवहार मात्र का उच्छेद हो जायगा। स्वयंप्रकाश शब्द का अर्थ अपने आपको जानना नहीं; किन्तु स्वसिद्धि में अन्य प्रकाश की सापेक्षता का अभाव ही है, इसलिए कर्तृ-कर्म-रूप दोष की भी प्राप्ति नहीं होगी।

स्वतःप्रकाश-परतःप्रकाशसमन्वय

ज्ञान चाहे स्वातिरिक्त अनुमान से जाना जाय या स्वातिरिक्त प्रत्यक्ष से जाना जाय, दोनों प्रकारों से 'ज्ञान-परप्रकाश है' यही सिद्ध होगा, अतः उक्त तीन पक्ष न होकर स्वप्रकाश तथा परप्रकाश ये दो ही पक्ष शेष रह जाते हैं। इन दोनों पक्षों में किस प्रकार कहाँ तक समन्वय हो सकता है? यही दिखाने का प्रयास किया जाता है।—

यदि निष्पक्ष होकर गम्भीरतापूर्वक देखा जाय तो जिस घटाकार, पटाकार रूप वृत्तिज्ञान स्थानीय विशेष ज्ञान को न्याय आदि ने परप्रकाश कहा है; उसे तो वेदांती भी साक्षिभास्य रूप में परप्रकाश ही मानते हैं। जैन तथा वैष्णव भी मुख्यतः ज्ञान गुण को ही स्वप्रकाश कहते हैं; इन्द्रिय आदि द्वारा पर्यायरूपता या विशेष अभिव्यक्तिरूपता को प्राप्त वृत्तिज्ञान को वर्तमान दशा में स्वप्रकाश कहना तो अनवस्था आदि दोषों से बचने के लिए ही है। जैनमत में पर्यायरूपता-आपन्न ज्ञानों से, उत्पन्न और विनष्ट होने-वाले अपने ही पर्यायों का प्रकाश नहीं हो सकता। इसी प्रकार वैष्णवमत में अभिव्यक्तिरूपता-आपन्न ज्ञान से अपनी ही कभी होनेवाली अभिव्यक्ति एवं अनभिव्यक्ति का प्रकाश नहीं हो सकता। इसीलिए वैष्णवों ने नष्ट तथा अनुत्पन्न ज्ञानों में क्रमशः स्मृति और अनुमानप्रमाण की वेद्यतारूप परप्रकाशता स्पष्ट शब्दों में स्वीकार भी की है।

शेष रहा प्रभाकर का तथा बौद्धों का स्वप्रकाशवाद। प्रभाकर क्षणिक वृत्तिज्ञान को स्वप्रकाश तथा आत्मा का गुण मानते हैं। बौद्ध क्षणिक वृत्तिज्ञान को स्वप्रकाश तो मानते ही हैं तथा उसी को आत्मरूप भी मानते हैं। यद्यपि क्षणिक-वृत्तिज्ञान क्षणिक होने के कारण अपनी उत्पत्ति और अपने विनाश का ग्रहण नहीं कर सकता, तथा उसे स्वप्रकाश मानने में अपरिहार्य कर्तृ-कर्म-रूप दोष भी प्राप्त होता ही है, इसलिए प्रभाकर और बौद्ध को भी क्षणिक वृत्तिज्ञान में परप्रकाशता ही माननी चाहिए थी।

तो भी बौद्धों ने तथा प्रभाकर ने स्व-स्वअभिमत प्रक्रिया द्वारा क्रमशः स्थिर तथा ज्ञानरूप आत्मा का निराकरण कर दिया। ऐसी दशा में उस क्षणिक वृत्तिज्ञान को प्रकाशित करनेवाला अन्य कोई न होने के कारण उसे ही स्वप्रकाश मान लेने के अतिरिक्त दूसरा कोई मार्ग ही नहीं रहा। इसलिए **परिशेष न्याय** से ही उन दोनों ने क्षणिक वृत्तिज्ञान को स्वप्रकाश स्वीकार कर लिया है।

बौद्धमत में विचारणीय प्रश्न यह है कि क्षणिक ज्ञान से अतिरिक्त स्थिर आत्मा स्वीकार करना चाहिए या नहीं? बौद्धों ने सुषुप्ति और समाधि की संगति बैठाने के लिए 'अहं अहं' रूप आलय विज्ञान को स्वीकार किया ही है तथा मुक्ति में स्वात्म-उच्छेदरूप दोष से बचने के लिए वृत्तिरूप क्षणिक विज्ञान से सर्वथा विलक्षण विशुद्ध-विज्ञान को स्वीकार किया ही है। (देखिए 'आत्मसत्ता-समन्वय' शीर्षक) इसी प्रकार प्रभाकर के मत में भी यह विचारणीय है कि आत्मा को ज्ञानरूप मानना चाहिए या नहीं? प्रभाकर ने भी जड़ता से बचने के लिए आत्मा में ज्ञान का प्रागभाव या ज्ञान की योग्यता या ज्ञान की शक्ति को स्वीकार किया ही है। इसलिए प्रभाकर का आत्मा सर्वथा जड़ नहीं, जैसा कि प्रतिपक्षी आक्षेप करते हैं। (देखिए 'आत्मचित्तासमन्वय' शीर्षक) इस विवेचन से समन्वय के निम्नलिखित दो तथ्य प्राप्त होते हैं—

१—वस्तुस्थिति से क्षणिक वृत्तिज्ञान परप्रकाश ही है।

२—(क) बौद्ध तथा प्रभाकर ने अन्यथा अनुपपत्ति के कारण **परिशेष न्याय** का आलंबन करके ही क्षणिक वृत्तिज्ञान को

स्वप्रकाश माना है। इसी प्रकार जैन, वैष्णव, सांख्य, योग और वेदांत ने भी अन्यथा अनुपपत्ति के कारण **परिशेष न्याय** का आलंबन लेकर ही क्षणिक वृत्तिज्ञान के अतिरिक्त गुणरूप या आत्म-रूप नित्यज्ञान को स्वीकार किया है तथा उसे ही मुख्यतः स्वप्रकाश माना है।

(ख) न्याय-वैशेषिक ने भी अन्यथा अनुपपत्ति के कारण **परिशेष न्याय** का आलंबन करके ही किसी रूप में स्वप्रकाश नित्यज्ञान न स्वीकार करके क्षणिक वृत्तिज्ञान को परप्रकाश माना है।

"अन्त में सभी मतों ने **परिशेष न्याय** का ही सहारा लिया है" समन्वय का यह तथ्य हस्तगत या अवगत हो जाने पर आपाततः जैसा महान् विरोध प्रतीत होता है वैसा विरोध नहीं रह जाता। स्वप्रकाश-पक्ष में कर्तृ-कर्म-रूप दोष अपरिहार्य है तो परप्रकाश-पक्ष में अनवस्था, ग्राह्यग्राहक का युगपद् न होना आदिरूप दोष अपरिहार्य हैं ही। स्व-स्व-प्रक्रिया के अनुसार **परिशेष न्याय** से सभी पक्ष सिद्ध हो जाते हैं। यह **परिशेष न्याय** अंधविश्वास की श्रेणी में नहीं आता। (देखिए इसी नाम का शीर्षक)

पूर्व की भाँति यदि यहाँ भी शंका हो कि उक्त प्रकारों से सभी दर्शनों के अध्ययन से तथा समन्वय से भी ज्ञान की स्वप्रकाशता का या परप्रकाशता का प्रत्यक्ष तो होता ही नहीं, यह तो केवल बौद्धिक निर्णयमात्र ही है। इस शंका का समाधान भी पूर्व उक्त ही है

कि अन्य प्रत्यक्षों की भाँति बौद्धिक निर्णय भी असंदिग्ध, अबाधित, अतिस्पष्ट होने के कारण प्रत्यक्ष ज्ञान के ही अन्तर्गत आता है। इसे प्रत्यक्ष ज्ञान न मानने पर दर्शनशास्त्र के क्षेत्र की तो बात ही क्या, व्यवहार-क्षेत्र में भी पच्चानवें प्रतिशत व्यवस्था की समाप्ति हो जायगी। कारण कि व्यवहार-क्षेत्र में भी अन्वय-व्यतिरेक, अन्यथा अनुपपत्ति, परिशेष न्याय आदि के रूप में बौद्धिक निर्णय ही व्यवस्था लगाते हैं। (देखिए 'अतिविचारणीय प्रश्न' शीर्षक)

———

ज्ञान की स्वतःप्रमाणता-परतःप्रमाणता

उपक्रम—प्रथम तो ज्ञान की स्वतःप्रकाशता-परतःप्रकाशता से ज्ञान की स्वतःप्रमाणता-परतःप्रमाणता का भेद हृदयङ्गम कर लेना चाहिए, क्योंकि इनमें महान् अन्तर है। ज्ञान मात्र की उत्पत्ति जिन विषय, इन्द्रिय, मन, आत्मा तथा इनके संयोगरूप (सामान्य सामग्री से होती है। यदि उतनी ही सामग्री से प्रमा की = यथार्थ ज्ञान की तथा अप्रमा की = अयथार्थ ज्ञान की उत्पत्ति हो जाय तो स्वतः उत्पत्ति कही जाती है। इसी प्रकार यदि उक्त सामान्य सामग्री के अतिरिक्त गुणरूप या दोषरूप सामग्री के होने पर क्रमशः प्रमा की तथा अप्रमा की उत्पत्ति हो तो उसे परतः उत्पत्ति कहते हैं।

उत्पन्न हुए ज्ञानमात्र को ग्रहण करनेवाली सामान्य सामग्री (साक्षी या अनुव्यवसाय) से ही यदि ज्ञानगत प्रमाणता = यथार्थ-ज्ञानरूपता का या अप्रमाणता = अयथार्थज्ञानरूपता का ग्रहण हो जाय अथवा अन्य की अपेक्षा बिना ही ग्रहण हो जाय तो स्वतः ज्ञप्ति कही जाती है। इसी प्रकार यदि उक्त ज्ञानग्राहक सामग्री के अतिरिक्त सफल प्रवृत्तिरूप गुण के या असफल प्रवृत्तिरूप दोष के द्वारा क्रमशः प्रमाणता का एवं अप्रमाणता का ग्रहण हो तो परतः ज्ञप्ति कही जाती है। ज्ञान के स्वतःप्रकाश एवं परतःप्रकाश का तो केवल इतना ही अर्थ होता है कि वह ज्ञान स्वप्रकाश में अन्य की अपेक्षा रखता है या नहीं रखता। यही दोनों में महान् अन्तर है।

प्रमा और अप्रमा की परतःप्रमाणता

न्यायमत—न्याय-वैशेषिक का कहना है कि ज्ञानमात्र के जनक विषय, इन्द्रिय, मन, आत्मा तथा इनके संयोगरूप सामान्य सामग्री से ही यदि प्रमा की और अप्रमा की उत्पत्ति होती तो ज्ञानमात्र प्रमा या अप्रमा ही होते, परन्तु व्यवहार में ऐसा देखने में नहीं आता। हम नित्यप्रति देखते हैं कि हमारा कोई ज्ञान प्रमा होता है और कोई ज्ञान अप्रमा होता है। इसलिए ज्ञान में इस प्रमा-अप्रमारूप विशेषता की उत्पत्ति के लिए उक्त सामान्य सामग्री के अतिरिक्त क्रमशः गुण तथा दोष स्वीकार करने चाहिए। कारण कि सम्यक् प्रकाश, नेत्र-स्वच्छता, मनः-समवधान आदि गुणों के होने पर ही नेत्रजन्य प्रत्यक्ष ज्ञान में प्रमा की उत्पत्ति होती है।

मन्द प्रकाश, नेत्र-अस्वच्छता, मन-अनवधानता आदि दोषों से अप्रमा ज्ञान की उत्पत्ति होती है। अनुमानजन्य ज्ञान में सम्यक् व्याप्तिरूप गुण से प्रमा की और हेत्वाभासरूप दोष से अप्रमा की उत्पत्ति होती है। शब्दजन्य-ज्ञान में आप्तवक्तृत्वरूप गुण से प्रमा की तथा अनाप्तवक्तृत्वरूप दोष से अप्रमा की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार घ्राण, रसना आदि जन्य ज्ञानों के विषय में भी जान लेना चाहिए। इस अन्वय-व्यतिरेक से प्रमा की और अप्रमा की उत्पत्ति परतः ही माननी उचित है।

ज्ञानग्राहक अनुव्यवसाय मात्र से ही यदि प्रमात्व और अप्रमात्व का ग्रहण हो जाता तो यह मेरा ज्ञान यथार्थ है या अयथार्थ ? ऐसा सन्देह कभी न होता, परन्तु व्यवहार में ऐसा सन्देह होना सब के अनुभव से सिद्ध है। इस सन्देह की निवृत्ति सफल प्रवृत्ति और असफल प्रवृत्ति से होती है, यह भी सभी के अनुभव से सिद्ध है। अतः सफल प्रवृत्तिरूप कार्य से प्रवृत्तिजनक ज्ञान में प्रमात्व का अनुमान होता है तथा असफल प्रवृत्तिरूप कार्य से अप्रमात्व का अनुमान होता है। ये सफल और असफल प्रवृत्तियाँ ज्ञानग्राहक अनुव्यवसाय से अतिरिक्त (पर = अन्य) होने के कारण प्रमा का और अप्रमा का ग्रहण भी परतः ही होता है। अतः प्रमा-अप्रमा की उत्पत्ति की भाँति प्रमा-अप्रमा की ज्ञप्ति को भी परतः मानना ही युक्तियुक्त है।

यदि यहाँ सन्देह हो कि सफल प्रवृत्तिरूप तथा असफल प्रवृत्ति-रूप ज्ञानों के प्रमात्व ग्रहण को भी परतः मानने पर उत्तर-उत्तर

अनवस्था दोष होगा। इस शंका का यह समाधान है कि सफल-असफल प्रवृत्तियाँ संवादरूप होने से उनके प्रमात्व में सन्देह होता ही नहीं। यदि सफल-असफल प्रवृत्ति के अतिरिक्त वचन, लिंग आदि जन्य ज्ञान प्रमात्व-अप्रमात्व अनुमापक हों और उनमें भी प्रमात्व-अप्रमात्व का सन्देह हो जाय तो उसकी निवृत्ति भी दो-चार कोटि में अवश्य ही हो जाती है, अतः अनवस्था दोष नहीं होगा। इस प्रकार प्रमा और अप्रमा की उत्पत्ति तथा ज्ञप्ति दोनों परतः होने के कारण उनकी परतःप्रमाणता-अप्रमाणता न्याय-वैशेषिक को मान्य है।

प्रमा और अप्रमा को स्वतःसिद्धता

सांख्यमत—सांख्य सत्कार्यवादी होने के कारण किसी भी असत् की उत्पत्ति नहीं स्वीकार करता। अतः प्रमात्व तथा अप्रमात्व को स्वतः (सत् = प्रथम से विद्यमान) ही मानता है। गुण-दोषयुक्त साधनों से प्रमा-अप्रमा की अभिव्यक्ति मात्र स्वीकार करता है, उत्पत्ति स्वीकार नहीं करता।

प्रमा और अप्रमा की स्वतःप्रमाणता तथा परतःप्रमाणता

जैनमत—जैनों का कहना है कि जिस प्रकार के ज्ञानों को अनेकों बार सफल प्रवृत्ति तथा असफल प्रवृत्ति से क्रमशः प्रमाणता और अप्रमाणता निश्चित हो चुकी है, उस प्रकार के अभ्यस्त ज्ञानों

में प्रमाणता का तथा अप्रमाणता का ग्रहण (ज्ञप्ति) स्वतः ही सिद्ध होता है। अनभ्यस्त (सर्वप्रथम) उत्पन्न ज्ञान में तो संदेह भी होता है, उस संदेह की निवृत्ति सफल-असफल प्रवृत्ति से ही होती है, इसलिए अनभ्यस्त ज्ञान में प्रमाणता तथा अप्रमाणता का ग्रहण = ज्ञप्ति परतः ही सिद्ध होती है। यह सबके अनुभव से सिद्ध है, सर्वत्र इन दोनों का स्वतः ही या परतः ही होना अनुभवसिद्ध नहीं। प्रमा-अप्रमा की उत्पत्ति को तो गुण-दोषयुक्त साधनों से होने के कारण परतः ही मानना चाहिए।

प्रमा की परतः जन्यता और अप्रमा की स्वतःसिद्धता

बौद्धमत—बौद्धों का कहना है कि प्रमा भावरूप होने के कारण परतः जन्य हो यह तो ठीक है, परन्तु अप्रमा तो अभाव = तुच्छरूप होने के कारण शशश्रृंग की भाँति जन्य हो ही नहीं सकती, इसलिए उसे स्वतःसिद्ध मानना चाहिए।

सांख्य, योग, जैन तथा बौद्धों का इस विषय पर विशेष विवेचन मेरे देखने में नहीं आया। ग्रन्थों में यत्र-तत्र जो कुछ मिला उसीका यहाँ निर्देश कर दिया गया है।

प्रमा की स्वतःप्रमाणता तथा अप्रमा की परतःप्रमाणता

मीमांसकमत—पूर्वमीमांसा का कहना है कि यदि प्रमा की प्रमाणता सफल प्रवृत्तिरूप हेतु से अनुमान द्वारा सिद्ध की जायगी तो अन्योन्याश्रय दोष अवश्य होगा। कारण कि प्रमाणता का

निश्चय हो जाने पर प्रवृत्ति होगी तथा सफल प्रवृत्ति होने पर प्रमाणता का निश्चय होगा। यदि कहें कि संभावना से ही प्रवृत्ति हो जायगी, इसलिए अन्योन्याश्रय दोष प्राप्त नहीं होगा, तो यह कहना भी ठीक नहीं, कारण कि निश्शंक प्रवृत्ति संभावना मात्र से नहीं होती, उसके लिए तो ज्ञान की प्रमाणता का पूर्ण निश्चय पहले ही होना चाहिए। दूसरी बात यह है कि सफल प्रवृत्तिरूप हेतु स्वप्न के पदार्थों में व्यभिचारी भी है, इसलिए उससे प्रमाणता-रूप साध्य की सिद्धि नहीं हो सकती। सफल प्रवृत्तिरूप हेतु की अव्यभिचारिता किसी अनुमान से सिद्ध करने पर अनवस्था दोष प्राप्त होगा। इस प्रकार कोई भी व्यक्ति किसी भी ज्ञान की प्रमाणता का निश्चय कभी भी न कर सकने के कारण कहीं भी निश्शंक प्रवृत्ति न कर सकेगा, जिसके कारण व्यवहार मात्र के उच्छेद हो जाने की आपत्ति होगी, परन्तु यह सब अनुभव के विरुद्ध होने के कारण माना नहीं जा सकता। इसलिए प्रमाणता के ग्रहण में अन्य की अपेक्षा न होने के कारण परिशेष न्याय से प्रमा की प्रमाणता का ग्रहण स्वतः ही मानना चाहिए।

उत्तरमीमांसा (वेदांत) ने इस प्रमाणता का ग्रहण ज्ञानग्राहक दोषाभावयुक्त साक्षिमात्र से माना है, इसलिए प्रमाणता की ज्ञप्ति को भी स्वतः माना है। कहीं-कहीं सन्देह तो दोष की संभावना से होता है, स्वाभाविक रीति से तो ज्ञानों में प्रमाणता ही होती है। अप्रमाणता तो असफल प्रवृत्तिरूप हेतु से बाद में गृहीत होती है, इसलिए अप्रमाणता का ग्रहण तो हम भी परतः ही मानते हैं। इसी

प्रकार दोषाभावयुक्त ज्ञानजनक सामान्य सामग्री मात्र से प्रमाणता की उत्पत्ति होती है, अतः उस प्रमाणता की उत्पत्ति को भी स्वतः माना जाता है। अंधकार, व्यभिचार आदि हेत्वाभास, परवंचना आदि दोषरूप अतिरिक्त सामग्री से अप्रमाणता की उत्पत्ति होती है, इसलिए उसे तो हम भी परतः ही मानते हैं।

यदि कहें कि ज्ञानग्राहक तथा ज्ञान-उत्पादक सामान्य सामग्री से अतिरिक्त = पर ही दोषाभाव है, इसलिए प्रमात्व की उत्पत्ति तथा ज्ञप्ति को परतः ही मानना चाहिए, तो यह कहना भी ठीक नहीं, कारण कि भावरूप अतिरिक्त सामग्री से ही परता होती है, अभावरूप से परता नहीं होती। दूसरी बात यह है कि संपूर्ण कार्यों में दोषाभाव अति आवश्यक होता है; इसलिए दोषाभाव को सामान्य सामग्री से अतिरिक्त मानना ठीक नहीं। यदि कहें कि सामान्य सामग्री के अन्तर्गत ही दोषाभाव हो तो सभी ज्ञानों में प्रमाणता ही होनी चाहिए, तो यह कहना भी नहीं बनता, कारण कि बाद में दोष का ज्ञान होने से प्रथम उत्पन्न स्वाभाविक प्रमाणता भी अपोदित = निरस्त हो जाती है। इसलिए सभी ज्ञानों में प्रमाणता नहीं होती। इस प्रकार कोई दोष न आने से तथा व्यवहार की उचित व्यवस्था हो जाने से प्रमाणता की उत्पत्ति तथा ज्ञप्ति स्वतः मानना ही युक्तियुक्त है।

जैनमत को छोड़कर सर्वदर्शनसंग्रहकार ने उक्त मतों का संग्रह इस प्रकार किया है—

प्रमाणत्वाप्रमाणत्वे स्वतः सांख्याः समाश्रिताः ।
नैयायिकास्ते परतः, सौगताश्चरमं स्वतः ॥
प्रथमं परतः प्राहुः प्रामाण्यं, वेदवादिनः ।
प्रमाणत्वं स्वतः प्राहुः परतश्चाप्रमाणताम् ॥

अर्थात् प्रमाणत्व और अप्रमाणत्व को सांख्यों ने स्वतः तथा नैयायिकों ने परतः माना है। बौद्धों ने प्रमाणत्व को परतः और अप्रमाणत्व को स्वतः कहा है। वेदवादी मीमांसकों ने प्रमाणत्व को स्वतः और अप्रमाणत्व को परतः माना है।

स्वतःप्रमाण-परतःप्रमाणसमन्वय

सूक्ष्मता से विचार किया जाय तो बौद्ध, जैन और सांख्य भी न्याय-वैशेषिक की भांति प्रकारान्तर से प्रमात्व-अप्रमात्व को परतः ही मानते हैं। कारण कि सांख्य सत्कार्यवादी होने के कारण ही प्रमात्व और अप्रमात्व को स्वतः सिद्ध कहता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि कारणरूप में सदा विद्यमान होने से प्रमात्व और अप्रमात्व को स्वतः सिद्ध कहा है, किन्तु कार्यरूप में अभिव्यक्त—शब्दान्तर में उत्पन्न–प्रमात्व और अप्रमात्व में तो क्रमशः गुण-दोषरूप अतिरिक्त सामग्री स्वीकृत होने के कारण वे दोनों परतः ही हैं।

बौद्ध लोग प्रमा को परतः स्पष्ट शब्दों में कहते ही हैं। अप्रमा को स्वतः सिद्ध तो इसलिए कहते हैं कि अभाव को पदार्थ न

मानने के कारण उसकी उत्पत्ति किसी प्रकार संभव नहीं। ज्ञान की जनक सामान्य सामग्रीमात्र से अप्रमा की उत्पत्ति होती है, इस अभिप्राय से अप्रमा को स्वतः सिद्ध मानते हों—ऐसा आशय बौद्धों का बिलकुल नहीं। अभाव पदार्थ है या नहीं? अप्रमा प्रमा का अभावरूप ही है या अन्य पदार्थ है? इत्यादि बातों पर विस्तारभय तथा प्रसङ्गान्तरभय से विचार नहीं किया जा रहा है।

जैन अनभ्यासदशा में तो स्पष्ट ही प्रमा के एवं अप्रमा के ग्रहण को परतः स्वीकार करते हैं। मुख्य रूप से अनभ्यास-दशापन्न ज्ञान ही विचार का विषय है, इसलिए अभ्यासदशापन्न ज्ञानों के प्रमात्व का ग्रहण भी परतः ही मानना चाहिए। अभ्यास-दशापन्न ज्ञानों में परत्व का स्पष्ट ग्रहण तो इसलिए नहीं होता कि पूर्व प्रमा ज्ञानों में व्याप्त तत्सदृश ज्ञानत्वरूप अत्यन्त रूढ़ हेतु से प्रमात्व का अतिशीघ्र अस्पष्ट अनुमान हो जाता है। नहीं तो 'अनभ्यासदशा में वर्णसंयोगपूर्वक पदों का उच्चारण होता है तथा अभ्यासदशा में बिना वर्णसंयोग के पदों का उच्चारण होता है' यह भी मानना पड़ेगा, परंतु यह माना नहीं जा सकता। जरा और सूक्ष्मता से तथा निष्पक्षता से देखा जाय तो वेदांत या मीमांसा द्वारा प्रमात्व को स्वतः कहने में भी उक्त अत्यन्त-रूढ़-अस्पष्ट-अनुमान ही कारणरूप में मिलेगा। इसी बात पर स्पष्टरूप से विचार किया जाता है।

यद्यपि व्यवहारकाल में अधिकतर ज्ञानों में प्रमात्व का

निश्चय स्वाभाविक (स्वतः) ही प्रतीत होता है, तभी तो मनुष्य की शंकारहित इष्ट-अनिष्ट विषय में प्रवृत्ति-निवृत्ति होती है। तथापि उक्त प्रमात्व का निश्चय प्रमात्व के स्वतः होने के कारण नहीं होता; किंतु व्यवहारकाल में अधिकतर ज्ञान यथार्थ होने के कारण ज्ञान के साथ प्रमात्व के संस्कार हृदय में अतिदृढ़ हो जाते हैं। पुनः किसी ज्ञान के उदय होते ही ज्ञानत्वरूप सादृश्य से उक्त संस्कारों का उद्‌बोधन होकर अतिशीघ्र अनुमान द्वारा परतः ही प्रमात्व का निश्चय होता है। यह अनुमान अतिशीघ्र अस्पष्ट होने के कारण प्रमा में परतस्त्व की प्रतीति न होकर स्वतस्त्व-सा प्रतीत होता है। यही बात और अधिक स्पष्ट करने के लिए अप्रमात्व का विचार करते हैं।

कुछ व्यक्तियों को कुछ विषयों का अधिकतर स्थानों में अप्रमा ज्ञान ही होता है; इसलिए तद्‌विषयक ज्ञानों के साथ अप्रमात्व के संस्कार अतिदृढ़ हो जाते हैं। पुनः तद्‌विषयक ज्ञान होते ही अप्रमात्व के संस्कार का उद्‌बोधन होकर अतिशीघ्र अस्पष्ट अनुमान द्वारा अप्रमात्व का परतः ही बोध होता है, तो भी उस ज्ञान में अप्रमात्व स्वाभाविक रीति से स्वतः-सा ही मालूम होता है। उदाहरण के लिए मुझे अधिकतर स्थानों में दिशाभ्रम हो जाता है, यहाँ तक कि जहाँ दिशाभ्रम हुआ वहाँ वर्षों रहने पर भी, सूर्योदय अमुक स्थान से ही होता है, यह नित्यप्रति अनुभव कर लेने पर भी वह दिशाभ्रम दूर नहीं होता। इसलिए जब कभी किसी नये स्थान पर जाता हूँ तब

दिशा-ज्ञान में स्वाभाविक रीति से स्वतः अप्रमात्व ही मालूम होता है, पुनः सूर्य-उदय आदि गुणों से अप्रमात्व का निरास होता है। मुझे ही क्यों, सभी को अति उच्च शिखरस्थ विशाल वृक्षावली में लघु गुल्मलतावली का भ्रमरूप अप्रमात्व स्वाभाविक = स्वतः-सा ही मालूम होता है। बाद में दूरदर्शक यंत्र आदि गुणों से अप्रमात्व का निरास होता है। इस विस्तार का प्रयोजन केवल इतना ही है कि अधिकतर ज्ञानों में स्वाभाविक रीति से प्रमात्व की प्रतीति होने मात्र से ही यदि प्रमात्व को स्वतः माना जाय तो समान न्याय से अप्रमात्व को भी उक्त स्थलों में स्वतः ही मानना होगा। निष्पक्ष वस्तुस्थिति यही है कि अत्यन्त निरूढ़ अस्पष्ट अनुमिति के कारण ही दोनों में स्वाभाविकत्व = स्वतस्त्व प्रतीत होता है, वास्तव में स्वतस्त्व है नहीं। इसी प्रकार प्रमात्व की उत्पत्ति में भी जो स्वतस्त्व की प्रतीति होती है उसका भी कारण अधिकतर स्थानों में ज्ञानजनक सामग्री का गुणयुक्त होना ही है, स्वाभाविक स्वतस्त्व नहीं।

'दोषाभाव भावरूप न होने के कारण दोषाभाव से परतस्त्व नहीं होगा' यदि ऐसा स्वीकार कर लिया जाय तो 'अप्रमात्व की उत्पत्ति भी स्वतः ही होती है', यह भी स्वीकार करना पड़ेगा। कारण कि सम्यक्-प्रकाशरूप-गुणाभाव या सम्यक्-व्याप्तिरूप-गुणाभाव या आप्तत्वरूप-गुणाभाव से अप्रमात्व होता है, इस प्रकार अन्धकारादि भावरूप दोषों का भी अभावात्मक शब्दों से कथन किया ही जा सकता है। इसी प्रकार अन्धकार-अभाव आदि दोषा-

भावों का सम्यक्-प्रकाश आदि भावरूप गुणशब्दों से भी कथन किया ही जा सकता है, ऐसा करने पर भी वस्तुस्थिति में कुछ भी अन्तर नहीं आता। इससे स्पष्ट हो जाता है कि प्रमात्व की उत्पत्ति और ज्ञप्ति को भी न्याय-वैशेषिक की भांति पूर्वमीमांसक तथा वेदांती को भी परतः ही मानना चाहिए। इसलिए सभी के मत में विवादास्पद जन्यवृत्तिज्ञान का प्रमात्व तथा अप्रमात्व परतः ही है। इस प्रकार कोई विरोध न होने के कारण समन्वय में कुछ बाधा नहीं आती, यही निश्चित होता है।

परतः प्रमात्व पक्ष में एक-दो मुख्य-मुख्य शंकाओं पर विचार करके यह विषय समाप्त किया जायगा। 'प्रथम ज्ञान के प्रमात्व अनुमापक ज्ञान का प्रमात्व यदि अन्य ज्ञान से माना जाय तो अनवस्था आदि दोष होंगे' इस शङ्का का समाधान 'सफल प्रवृत्ति के संवादरूप होने से अनवस्थादि दोष न होंगे' इस सद् उत्तर से दिया गया। पूर्वमीमांसा ने स्वप्न में व्यभिचार दिखाकर उस सद् उत्तर का जो खंडन किया है वह ठीक प्रतीत नहीं होता, कारण कि व्यावहारिक क्षेत्र के सभी नियमों का स्वप्न में व्यभिचार प्रदर्शित करके सभी के सभी नियमों का खंडन किया जा सकता है।

दूसरी बात यह है कि यदि प्रथम ज्ञान के प्रमात्व अनुमापक ज्ञान के प्रमात्व की सिद्धि के लिए तत्क्षण ही प्रयास करें तो अनवस्था आदि दोष हों; किंतु ऐसा होता नहीं। प्रथम ज्ञान के प्रमात्व अनुमापक सफल-प्रवृत्तिरूप अनुमान की व्याप्ति की

अव्यभिचारिता जीवन में अनेक स्थलों में पहले ही हो चुकी है। उसके संस्कार अत्यन्त निरूढ़ होने से अतिशीघ्र अस्पष्ट रूप से वर्तमान सफल प्रवृत्ति के प्रमात्व को सिद्ध कर देते हैं। इसीलिए उस सफल प्रवृत्तिज्ञान के प्रमात्वसाधक अनुमान को अतिस्पष्ट प्रयत्नपूर्वक होता हुआ न देखकर ही कहीं-कहीं न्याय के ग्रन्थों में उसकी स्वतःप्रमाणता स्वीकार की गयी है। जिसको आधार बनाकर पूर्वमीमांसा ने यह आक्षेप किया कि किसी अन्तिम ज्ञान में या सफल-प्रवृत्तिरूप ज्ञान में स्वतःप्रमाणता माननी और प्रथम उत्पन्न ज्ञान में स्वतःप्रमाणता न माननी यह न्याय-शास्त्र का कौन-सा बुद्धिवैभव है ? परंतु अतिशीघ्र अस्पष्ट अनुमान की रीति से वस्तुस्थिति अत्यंत स्पष्ट है कि न्यायशास्त्र को किसी भी ज्ञान में स्वतःप्रमाणता मान्य नहीं। इसलिए मीमांसा का आक्षेप करना न्याय के अभिप्राय को न समझने के कारण है या समझकर भी उसकी उपेक्षा करने के कारण है।

जहाँ सफल प्रवृत्ति के अतिरिक्त वचन आदि से प्रमात्व का निश्चय होता है, वहाँ उसके भी प्रमात्व में संदेह होने पर दो-चार कोटि में ही सन्देह की निवृत्ति हो ही जाती है, अनवस्था आदि दोष नहीं होते, ऐसा सबके अनुभव से सिद्ध है। उसका अपलाप यह कहकर नहीं किया जा सकता कि 'यदि किसी को शंका होती ही चली जाय तो अनवस्था आदि दोष अवश्य होंगे'। कारण कि यदि अभी तक अनादि संसार में कोई ऐसा अलौकिक व्यक्ति पैदा नहीं हुआ जिसे शंका होती ही गयी हो, तो भविष्य में कभी पैदा

होगा, इस कल्पना का कोई ठोस आधार न होने के कारण वह मान्य नहीं हो सकती, नहीं तो सर्वत्र अतिप्रसंग प्राप्त होगा।

इस प्रकार सभी शंकाओं का निराकरण हो जाने से प्रमात्व-अप्रमात्व की उत्पत्ति तथा ज्ञप्ति को परतः मानना ही युक्तिसंगत है। तो भी पूर्वमीमांसा ने जो ज्ञान के प्रमात्व की उत्पत्ति को स्वतः मानने का अत्यन्त आग्रह किया है, उसका एकमात्र कारण वेदों को अपौरुषेय मानना ही है। कारण कि शब्दजन्य ज्ञान में प्रमात्व की उत्पत्ति आप्तवक्तृत्वरूप अतिरिक्त गुण से आती है, इसलिए वेदवाक्यजन्य शब्दज्ञान में भी प्रमात्व की उत्पत्ति के लिए ईश्वररूप आप्त वक्ता मानना पड़ेगा। पूर्वमीमांसा के सिद्धांत में ईश्वर को माना ही नहीं गया, इस स्थिति में वेदवाक्यजन्य ज्ञान अप्रमा हो जायँगे, इस भय से उन्होंने प्रमात्व की उत्पत्ति को स्वतः सिद्ध करने में बहुत प्रयत्न किया है। "व्यवहारे वयं भाट्टाः" इस उक्ति के अनुसार वेदान्तियों ने भी प्रमा की स्वतः उत्पत्ति का समर्थन किया है।

वास्तव में स्वतः प्रमाण और परतः प्रमाण के विचार में न्याय तथा मीमांसा का ही मुख्य विवाद है। दोनों के हृदयस्थ भावों पर दृष्टि डालने से ऐसा प्रतीत होता है कि नैयायिकों ने पहले नेत्र आदि प्रमाणजन्य ज्ञानों पर विचार किया। उन ज्ञानों में प्रमात्व-अप्रमात्व का सन्देह होता ही है कि 'मेरा यह ज्ञान प्रमा है या अप्रमा है?' उसके बाद सफल प्रवृत्ति एवं असफल प्रवृत्ति से सन्देह की निवृत्ति होने पर ही उन ज्ञानों की प्रमारूपता

और अप्रमारूपता का निर्णय होता है। इस प्रकार पहले नेत्र आदि प्रमाणजन्य ज्ञानों में प्रमा को परतः सिद्ध किया, बाद में 'प्रमाण-जन्यत्व' रूप हेतु से वेदप्रमाणजन्य ज्ञान में भी प्रमा परतः ही होती है, ऐसा माना। वेद (शब्द) जन्य ज्ञान में प्रमाणता आप्त-वक्तृत्वरूप गुण से ही होती है, इसलिए ईश्वररूप सर्वज्ञ आप्त वक्ता को वेदों का रचयिता सिद्ध किया।

किन्तु यहाँ यह निवेदन है कि ईश्वर भी 'अमुक कर्म पाप का हेतु है तथा अमुक कर्म पुण्य का हेतु है' इत्यादिरूप में पूर्व कल्पों के अनुसार ही उत्तर-उत्तर कल्पों में वेदों की रचना करेगा, नहीं तो पूर्व कल्पों में प्राणियों के द्वारा किये गये कर्मों के अनुसार उत्तर-उत्तर कल्पों में फलभोग की व्यवस्था नहीं हो सकेगी। इस अव्यवस्था दोष से बचने के लिए यदि पूर्व-पूर्व कल्पों के अनुसार ही उत्तर-उत्तर कल्पों में वेदों की रचना ईश्वर करता है, ऐसा मान लिया जाता है तो वेदों में स्वतन्त्र रचनारूप पौरुषेयत्व नहीं रहता। तब वेदजन्य ज्ञान में प्रमाणता स्वतः ही माननी होगी, आप्तवक्तृत्वरूप गुण से प्रमाणता नहीं मानी जायगी। इस प्रकार नैयायिकों को भी नेत्र आदि प्रमाणजन्य लौकिक ज्ञानों में परतः-प्रामाण्य तथा वेदजन्य ज्ञान में स्वतःप्रामाण्य मान लेना चाहिए। प्रमाणजन्यत्वरूप हेतु को आधार बनाकर नेत्रादि प्रमाणजन्य लौकिक ज्ञानों की भाँति वेदप्रमाणजन्य अलौकिक ज्ञान में भी परतःप्रामाण्य मानने का आग्रह नहीं करना चाहिए, यही उचित प्रतीत होता है।

इसी प्रकार जब मीमांसक के हृदयस्थ अभिप्राय पर विचार करते हैं तो ऐसा प्रतीत होता है कि वेदप्रतिपाद्य धर्म-अधर्म तथा याग-हिंसा आदि की स्वर्ग-नरक के प्रति साधनता वेदप्रमाण को छोड़कर किसी भी प्रत्यक्ष आदि प्रमाण का विषय नहीं। इस-लिए प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों के द्वारा वेदजन्य ज्ञान के प्रामाण्य की पुष्टि या सन्देह की निवृत्ति नहीं की जा सकती, तथा न वेदजन्य ज्ञान के प्रामाण्य का बाध ही किया जा सकता है। ऐसी दशा में वेदजन्य ज्ञान के प्रामाण्य में कोई बाधक न होने के कारण वह स्वतः सिद्ध है, यह मानना अनिवार्य होगा। अलौकिक वेदजन्य ज्ञान के इस स्वतःप्रामाण्य को लौकिक नेत्र आदि प्रमाणजन्य ज्ञानों में भी प्रमाणजन्यत्वरूप हेतु से बलात् स्वीकार कराने की चेष्टा की गयी है।

किन्तु यहाँ भी यह निवेदन है कि लौकिक नेत्र आदि प्रमाण-जन्य ज्ञानों में सन्देह होता ही है तथा सफल-प्रवृत्ति और असफल-प्रवृत्ति से उस सन्देह की निवृत्ति भी होती है, उसके बाद ही उन ज्ञानों में प्रमाणता का तथा अप्रमाणता का निश्चय होता है, यह सबके अनुभव से सिद्ध है।

ऐसी दशा में मीमांसक को भी अलौकिक वेदप्रमाणजन्य ज्ञान के स्वतःप्रामाण्य को, लौकिक नेत्र आदि प्रमाणजन्य ज्ञानों में प्रमाणजन्यत्वरूप हेतु से बलात् लादने का आग्रह नहीं करना चाहिए। यदि आग्रह छोड़कर निष्पक्ष दृष्टि से देखा जाय तो दोनों को वेदजन्य ज्ञान में स्वतःप्रामाण्य तथा लौकिक प्रमाणजन्य

ज्ञान में परतःप्रामाण्य स्वीकार कर लेना चाहिए। यद्यपि इस प्रकार समन्वय कर लेने में किसी प्रकार की हानि तथा अनुभव-विरोध भी प्रतीत नहीं होता, तो भी दार्शनिक क्षेत्र में लाघव-गौरव का विचार भी अपना विशेष महत्त्व रखता है, इसलिए वैदिक तथा लौकिक प्रमाणजन्य सभी ज्ञानों में यदि स्वतः अथवा परतः से संगति दिखाई जा सके तो लाघव होगा। इसी दृष्टि से ही मीमांसकों तथा नैयायिकों ने वैदिक तथा लौकिक सभी ज्ञानों में स्वतःप्रामाण्य तथा परतःप्रामाण्य सिद्ध करने का प्रयास किया है। दार्शनिक दृष्टि से उसे अनुचित नहीं कहा जा सकता।

——

आत्मा की आनन्दता पर विचार

उपक्रम—यद्यपि आत्मसत्ता तथा आत्मचित्ता की भाँति समनस्क-अवस्था में अपने लिए सब का परित्याग कर देने की बात भी सार्वजनिक अनुभव से सिद्ध है, इसलिए अपने में परम प्रेमास्पदता भी निर्विवाद सिद्ध है। तो भी यह परम प्रेमास्पदता आत्मा के आनन्दरूप होने के कारण है ? अथवा आत्मा के नित्य या अनित्य आनन्दगुणवान् होने के कारण है ? इस विषय पर वादियों के जो विवाद हैं; पहले उन्हें दिखाकर बाद में उनमें कहाँ तक किस प्रकार समन्वय विद्यमान है, यह दिखाया जायगा।

आनन्द आत्मा का स्वरूप ही है

वेदान्त का कहना है कि मनुष्य पुत्र के लिए धन, मित्र आदि का परित्याग कर देता है। उस पुत्र का भी अपने शरीर के लिए तथा अपने उत्कट सुख की प्राप्ति के लिए स्वशरीर का भी परित्याग कर देता है, प्रायः यह देखने में आता है। यद्यपि कहीं-कहीं मित्र या धन के लिए पुत्र का अथवा पुत्र और धन के लिए अपने शरीर का भी परित्याग देखने में आता है, तो भी 'जिसमें स्व को सुख होता है वही कार्य मनुष्य करता है', इस नियम में कभी भी कहीं भी किसी प्रकार भी व्यभिचार नहीं हो सकता। इससे यह बिलकुल स्पष्ट हो जाता है कि स्व में ही परम प्रेमास्पदता है। यह परम प्रेमास्पदता ही आनन्दता है, कारण कि जो आनन्दरूप न हो उसमें परम प्रेम नहीं हो सकता।

विषयों से या उनके साथ इन्द्रियों के संयोग से अथवा उनके चिन्तन से सुख होता है, ऐसा जो सर्वसाधारण को अनुभव होता है, वह अविवेकजन्य भ्रांति ही है, कारण कि यदि विषय में सुख होता तो एक विषय से सभी को सुख होना चाहिए; परन्तु सुख होता नहीं। देखा जाता है कि उसी व्यक्ति को जिसे उस विषय से सुख होता था, कालान्तर में उसी विषय से सुख नहीं होता। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि विषय में या विषय और इन्द्रियों के संयोग में या विषयों के चिन्तन में सुख नहीं होता। वास्तव में बात यह है कि अभीष्ट विषय की प्राप्ति होने पर चित्त एक क्षण के लिए एकाग्र हो जाता है, उस एकाग्र चित्त में आत्मरूप आनन्द

का प्रतिबिम्ब पड़ जाता है, उसके कारण ही सुख की अनुभूति होती है। अज्ञ जनों को यहाँ भ्रांति हो जाती है कि 'मुझे विषयों से सुख प्राप्त हो रहा है'। इस भ्रांति का कारण है—इष्ट विषय की उपलब्धि, चित्त की एकाग्रता, आनन्द का प्रतिबिम्ब—इन तीनों का अत्यन्त त्वरा से = अतिशीघ्रता से होना।

सुषुप्ति में विषय, विषय-इन्द्रिय-संयोग, विषय-चिन्तन, इन तीनों के न होने पर भी सुख की अनुभूति होती है, कारण कि जागने पर मनुष्य कहता है 'आज खूब सुख से सोया' यह स्मरण सुषुप्ति में सुख के अनुभव को सिद्ध करता है। जिसका पहले अनुभव किया होता है, उसीका स्मरण होता है, अननुभूत का स्मरण नहीं होता। सुषुप्ति में अन्य विषय आदि से जन्य सुख तो है नहीं; इसलिए वह सुख .रिशेषन्याय से आत्मस्वरूप ही सिद्ध होता है। 'आनन्दं ब्रह्म' 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' आदि श्रुतियाँ भी इसमें प्रबल प्रमाण हैं तथा तत्त्वज्ञ महापुरुषों का अनुभव भी आत्मा की आनन्दरूपता में प्रमाण है।

जिन नैयायिकों ने सुषुप्ति में आनन्द का अभाव बताकर आनन्द को आत्मा का आगन्तुक गुण माना है, वे सुषुप्तिरूप पक्ष, स्मरणाभाव, या सामग्री के अभाव (इष्ट विषय के साथ इन्द्रिय-संयोगाभाव) रूप हेतु का निरूपण न कर सकने के कारण अपने पक्ष का समर्थन नहीं कर सकते। उनके मत में सुख तथा सुखग्राहक ज्ञान दोनों ही आत्मा के गुण होने के कारण युगपत् = एक साथ नहीं हो सकेंगे, इसलिए कभी भी सुख का ग्रहण नहीं हो सकेगा।

श्री रामानुज आदि आचार्यों ने आत्मा को आनन्दरूप मानकर भी नित्य आनन्दगुण को भी माना है, परन्तु उनका ऐसा मानना ठीक नहीं, कारण कि आत्मा को आनन्दरूप मान लेने से ही जब व्यवस्था हो जाती है तब पृथक् नित्य-आनन्दगुण मानकर केवल गौरव दोष ढोना नहीं तो और क्या है ?

आनन्द आत्मा का नित्य गुण है

जैन तथा वैष्णव-मत—जैन भी वेदान्त की प्रक्रिया से विषय आदि में सुख का खण्डन करते हैं; किन्तु आनन्द को आत्मरूप मानने में यह दोष देते हैं कि जो अनुभाव्य है वह अनुभविता नहीं हो सकता, इसलिए आनन्द को आत्मा का स्वरूप नहीं मानना चाहिए, किन्तु कथंचित् नित्य गुण मानना चाहिए।

न्याय-वैशेषिक आनन्द को आत्मा का जन्य गुण मानते हैं। उनसे पूछना चाहिए कि आनन्द की उत्पत्ति किस साधन से होती है ? विषय आदि से आनन्द (सुख) की उत्पत्ति का खण्डन हो ही चुका है, इसलिए परिशेषन्याय से आनन्द को आत्मा का नित्य गुण ही मानना चाहिए। विषय, इन्द्रिय, पुण्य आदि तो प्रतिबन्ध के निवारक ही हैं, आनन्द के जनक नहीं। श्री रामानुज आदि वैष्णव आचार्यों ने भी आनन्द को आत्मा का नित्य गुण ही माना है। वे विषय, इन्द्रिय, पुण्य आदि को तो आनन्द गुण का अभिव्यञ्जक ही मानते हैं।

आनन्द आत्मा का अनित्य गुण है

न्यायमत—न्याय-वैशेषिक का कहना है कि सुषुप्ति में किसी

प्रकार का ज्ञान न होने के कारण 'अनुकूलवेदनीयं सुखम्' इस परिभाषा के अनुसार अनुकूलवेदना = अनुकूल ज्ञानरूप सुख सिद्ध नहीं किया जा सकता। 'आज खूब सुख से सोया' यह स्मरण बिलकुल नहीं, यह तो केवल स्फुरणमात्र है। यदि उसे स्मरणरूप मान भी लें और उस स्मरण की संगति के लिए सुषुप्ति में सुख का अनुभव भी स्वीकार कर लें, तो भी सुषुप्ति का सुख वेद्य होने के कारण आत्मरूप सिद्ध नहीं होता। कारण कि आत्मा वेद्य नहीं, किन्तु वेत्ता है, वेद्य वेत्ता से भिन्न ही होता है, वेत्तारूप नहीं। दूसरी बात यह है कि सुषुप्ति के सुख का अनुभव यदि साक्षीरूप नित्य ज्ञान के द्वारा मानें तो उस साक्षीरूप नित्य ज्ञान का विनाश न होने के कारण संस्काराधान नहीं हो सकेगा। संस्काराधान के लिए सुषुप्ति में कोई अविद्यावृत्ति भी मान लें तो भी उसके द्वारा सुख का अनुभव करनेवाले कूटस्थ निर्विकार साक्षी में ही विकार-रूप संस्कार का आधान मानना होगा। कारण कि अनुभव करने-वाले में ही स्मरण-उत्पादक संस्कारों का आधान होता है। तभी 'अनुभव करनेवाला ही स्मरण करनेवाला होता है' इस नियम का निर्वाह हो सकेगा। यह सब स्वीकार न होने के कारण वेदान्ती आनन्द को आत्मरूप सिद्ध नहीं कर सकते।

यहाँ यह भी विचारणीय है कि कभी-कभी रोग, चिन्ता आदि कारणों से बहुत कष्ट से नींद आती है, जागने पर मनुष्य कहता है 'आज बहुत कष्ट से सोया'। सुख की भाँति इस कष्ट (दुःख) को भी विषय, इन्द्रिय-संयोग, विषय-चिन्तन से जन्य सिद्ध न होने के

कारण क्या वेदान्ती दुःख को भी आत्मरूप स्वीकार कर लेगा ? यदि इस शका का यह उत्तर दिया जाय कि निद्राकाल में तो दुःख का अनुभव नहीं होता; किंतु निद्रा से अव्यवहित पूर्व क्षण में रोग, चिन्ता, मत्कुण, मच्छर, शय्या आदि की प्रतिकूलताजन्य दुःख का अनुभव होता है, निद्रा के साथ उस दुःख का एकीकरण करके 'बहुत कष्ट से सोया' यह कहा जाता है। यह उत्तर भी ठीक नहीं, क्योंकि समान तर्क से या तो आत्मा को सुखरूप की भाँति दुःख-रूप भी मानना पड़ेगा या शय्या आदि को प्रतिकूलता से जन्य दुःख को भाँति सुख को भी शय्या आदि की अनुकूलता से जन्य ही मानना होगा। इसलिए सुषुप्ति के सुख का स्मरण किसी प्रकार आत्मा को सुखरूप सिद्ध नहीं कर सकता, अतः परिशेष न्याय से सुषुप्ति में दुःख का अभाव ही सिद्ध होता है, सुख सिद्ध नहीं होता।

परम प्रेमास्पदतारूप हेतु से भी 'स्वसुख की प्राप्ति के लिए ही मनुष्य सबका परित्याग कर देता है' इतना मात्र ही सिद्ध होता है, आत्मा की सुखरूपता सिद्ध नहीं होती, कारण कि धन की प्राप्ति के लिए सबका परित्याग कर देनेवाला लोभी मनुष्य जैसे धनार्थी ही सिद्ध होगा, धनरूप सिद्ध नहीं होगा। वैसे ही सुख के लिए सबका परित्याग कर देनेवाला आत्मा सुखार्थी ही सिद्ध होगा, सुखरूप सिद्ध नहीं होगा, कारण कि अर्थी तथा अर्थ का भेद ही होता है, अभेद नहीं होता। 'विषयों में सुख नहीं' यह कहना तो ठीक है, किन्तु 'परिशेष न्याय से आत्मा सुखरूप है' यह कहना

ठीक नहीं, कारण कि समानयुक्ति से यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि 'विषयों में दुःख नहीं, परिशेष न्याय से आत्मा दुःखरूप है'। यदि इस शंका का समाधान यह दिया जाय कि वास्तव में दुःख न विषयों में है और न आत्मा में; किंतु दुःख नासमझी में है, तो यह भी कहा जा सकता है कि सुख न विषयों में है और न आत्मा में; किंतु सुख समझदारी में है, इसलिए आत्मा की सुखरूपता का निरर्थक व्यसन छोड़ देना चाहिए। श्रुति तो दुःख की भाँति सुख की भी आत्मरूपता का निषेध करती है **"अशरीरं वाव न प्रियाप्रिये स्पृशतः"**=शरीररहित आत्मा को निश्चय ही सुख-दुःख का स्पर्श नहीं होता। **'विज्ञानमानन्दम्'** आदि श्रुतियाँ तो दुःखाभाव को ही आनन्द शब्द से कहती हैं। जैसे लोक में दुःख निवृत्त हो जाने पर 'अब मैं सुखी हो गया' इस कथन में दुःखाभाव को ही सुख शब्द से कहा जाता है।

'सुख तथा सुखग्राहक ज्ञान, दोनों आत्मा के गुण हैं; वे एक साथ नहीं हो सकेंगे, इसलिए कभी सुख का ग्रहण ही नहीं होगा', यह जो आशंका उठती है उसका समाधान यह है कि आत्मा के दो गुण एक साथ उत्पन्न तो नहीं हो सकते; किंतु एक साथ अवश्य रह सकते हैं, इसलिए ज्ञान से सुख का ग्रहण हो जायगा। आत्मरूप नित्य सुख-साधक युक्तियों का निराकरण हो जाने से ही 'आत्मा नित्य सुखरूप नहीं' यह सिद्ध हो जाता है। इसी प्रकार गुणरूप नित्य सुख का भी निराकरण स्वयंमेव हो जाता है। इसलिए परिशेष न्याय से सुख को जन्य गुणरूप ही मानना चाहिए।

सुख की उत्पत्ति पुण्यरूप हेतु से होती है, अनुकूल विषय-इन्द्रिय-संयोग आदि तो सुख की उत्पत्ति में सहयोगी कारण ही होते हैं, ऐसा मानना ही श्रुति, युक्ति एवं अनुभूति के सर्वथा अनुकूल है।

आत्म-आनन्दतासमन्वय

आनन्द (सुख) की आत्मरूपता, गुणरूपता, नित्यता-अनित्यता, इन मतों के परस्पर विरोध तथा समन्वय भी ज्ञान की आत्मरूपता, गुणरूपता, नित्यता-अनित्यता की भाँति केवल परिभाषित मात्र हैं, अतः वस्तुस्थिति में कुछ भी अन्तर नहीं आता। यह बात दिखा रहे हैं—

१—जिस वृत्त्यात्मक वेद्य विशेष सुख को न्याय आदि दर्शन सुख शब्द का वाच्य मानते हैं, उसे तो सभी के मत में उत्पत्ति या अभिव्यक्ति के रूप में आगन्तुक (अनित्य) स्वीकार किया गया है। वैसा सुख सुषुप्ति, समाधि तथा मुक्ति में नहीं होता, इसलिए न्याय आदि दर्शन आत्मा को सुखरूप नहीं मानते। इसमें आत्मरूप नित्य-सुखवादियों को भी कुछ आपत्ति नहीं, कारण कि आत्मरूप नित्य सुख को वे भी न वृत्त्यात्मक मानते हैं और न वेद्य ही मानते हैं। उसमें किसी प्रकार का विवाद है ही नहीं, इसलिए सुगमता से समन्वय हो ही सकता है।

२—वास्तव में बात यह है कि जैसे आत्मा को जड़ता से बचाने

के लिए उसे नित्य ज्ञानरूप या नित्य ज्ञानगुणवाला माना गया है वैसे ही अनित्य सुख के अभावकाल में कहीं आत्मा दुःखरूप या दुःख गुणवाला न हो जाय, इसलिए आत्मा को नित्य सुखरूप या नित्य सुख गुणवाला माना है।

यहाँ यह निवेदन है कि आत्मा को दुःखरूपता आदि दोषों से बचाने का काम तो न्याय आदि दर्शनों के मतों के अनुसार आत्मा को अनित्य सुख गुणवाला मानने से भी सुतरां सम्पन्न हो जाता है। कारण कि जहाँ कभी भी सुख उत्पन्न होता है, वह पदार्थ दुःखरूप कैसे हो सकता है? इसी प्रकार न्याय आदि के मत में सुख की भाँति दुःख भी पापरूप हेतु से जन्य है, अतः सुखगुण के अभावमात्र से उस काल में आत्मा के दुःखगुणवाला होने की आशङ्का भी निरर्थक ही है। इसलिए आत्मा को सुखगुणवाला या दुःखाभावरूप मानने से ही आत्मा की दुःखरूपता या दुःखगुणवत्ता की आपत्ति की निवृत्ति हो जाती है। इस प्रकार समन्वय करने में किसी प्रकार की कोई बाधा नहीं आती।

आत्मा को दुःखाभावरूप मानने से आत्मा अभावरूप हो जायगा? यह शङ्का भी कुछ मूल्य नहीं रखती, कारण कि घटाभाव को भूतलरूप मानने से भावरूप भूतल क्या अभावरूप हो जाता है? वास्तव में बात यह है कि वेदान्तियों को किसी भी विधेयात्मक शब्द से आत्मा का प्रतिपादन करना बिलकुल अभीष्ट नहीं, इसलिए इस विषय में किसी प्रकार का विरोध हो ही नहीं सकता। कारण कि आत्मा केवल 'सत्‌रूप' है? या 'चित्‌रूप' है? या केवल 'आनन्द'रूप है? या वह तीन रूपों में है? ये

प्रश्न उठाने पर सभी पक्षों में अपने सिद्धान्त की हानि होते देखकर वेदान्ती उन पक्षों को स्वीकार ही नहीं करते, किन्तु एकरूप आत्मा ही सत्-चित्-आनन्द इन तीन शब्दों से व्यवहृत होता है, यही वेदान्ती उत्तर देते हैं।

पुनः यह प्रश्न उठाने पर कि 'सत्' शब्द से आत्मा का कथन हो ही गया, फिर उसे ही चित्-आनन्द शब्दों से कहने पर क्या पुनरुक्तता या पर्यायवाचिता दोष की प्राप्ति नहीं होती ? इस आक्षेप के उत्तर में वेदान्तियों का अत्यन्त स्पष्ट कथन है कि हम तो आत्मा में असत्, जड़, दुःखरूपता की व्यावृत्ति करने के लिए ही आत्मा को सत्-चित्-आनन्दरूप कहते हैं। इस उत्तर से बिलकुल साफ हो जाता है कि आत्मा की आनन्दरूपता का कथन केवल दुःखरूपता की व्यावृत्ति करने के लिए ही है। यह दुःखव्यावृत्ति-रूप कार्य दुःखाभावरूप कथन से भी सम्यक् सम्पन्न हो जाता है।

इस विवेचन से समन्वय के चार तथ्य हस्तगत होते हैं—

१—वेद्य वृत्तिरूप सुख सभी को नित्यरूप में मान्य नहीं।

२—आत्मा की दुःखरूपता की व्यावृत्ति आत्मा को नित्य-सुखरूप या नित्यसुखगुणवान् या अनित्यसुखगुणवान् या दुःखा-भावरूप माननेवाले सभी पक्षों में समानरूप से हो जाती है।

३—अपने-अपने पक्ष की साधक युक्तियां और अनुभूतियाँ सभी पक्षों में विद्यमान हैं तथा सभी परिशेषन्याय से ही अन्तिम समस्या का समाधान करते हैं।

४—अनित्यसुख पक्ष में सुख के ज्ञान की समस्या अपरिहार्य

है। नित्यसुख पक्ष में सुख की स्मृति के उत्पादक संस्कारों के आधान की समस्या अपरिहार्य है।

आत्मा के कर्तृत्व-अकर्तृत्व तथा भोक्तृत्व-अभोक्तृत्व पर विचार

उपक्रम—समनस्क-अवस्था में 'मैं कर्ता हूँ' तथा 'सुख-दुःख का भोक्ता हूँ' इस प्रकार आत्मा का कर्तृत्व-भोक्तृत्व सब के अनुभव से सिद्ध है तथा निर्मनस्क-अवस्थारूप सुषुप्ति, मूर्च्छा, समाधि में उक्त कर्तृत्व-भोक्तृत्व का अभाव भी सब के अनुभव से सिद्ध है। दो प्रकार की परस्पर विरोधी इन अनुभूतियों के आधार पर प्रश्न पैदा होता है कि आत्मा में कर्तृत्व-भोक्तृत्व स्वाभाविक है? या औपाधिक है? तथा अकर्तृत्व-अभोक्तृत्व स्वाभाविक है? या अन्तःकरण आदि साधनों के अभाव के कारण है? इस विषय में वादियों के भिन्न-भिन्न मत दिखाकर समन्वय दिखाया जायगा।

सांख्य-योग-वेदान्तमत

सांख्य तथा योग का कहना है कि क्रिया तो जड़ प्रकृति में ही होती है, उस प्रकृति से आत्मा की पृथक्ता का विवेक न होने के कारण अविवेकी लोग आत्मा में कर्तृत्व का अध्यारोप कर लेते हैं, वास्तव में तो आत्मा अकर्ता ही है, किन्तु सुख-दुःख का भोग

जड़ प्रकृति में सम्भव न हो सकने के कारण आत्मा को ही भोक्ता स्वीकार करना चाहिए। यद्यपि सुख-दुःख का भोग भी केवल आत्मा में नहीं होता, प्रकृति के साथ तादात्म्यापन्न होने पर ही आत्मा सुख-दुःख का भोक्ता होता है; तो भी सुख-दुःख के भोक्तृत्व में मुख्यरूप से आत्मा ही हेतु है तथा क्रिया के कर्तृत्व में मुख्यरूप से प्रकृति ही हेतु है। ऐसा गीता में स्पष्ट कहा है—

> कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।
> पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते॥
> पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान्।
> (गीता १३। २०-२१)

> प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
> अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥
> (गीता ३। २७)

यदि आत्मा में स्वाभाविक कर्तृत्व माना जायगा तो कभी मोक्ष नहीं हो सकेगा।

वेदान्त का कहना है कि कर्तृत्व की भाँति भोक्तृत्व भी असंग आत्मा में प्रकृति के साथ तादात्म्यापन्न होने पर ही होता है, यही स्वीकार करना चाहिए, नहीं तो आत्मा की असंगता केवल कथनमात्र ही रह जायगी। भोक्ता आत्मा और भोग्या प्रकृति इन दोनों के सदा विद्यमान होने के कारण भोग भी सदा होता ही रहेगा। जैसे स्वाभाविक कर्तृत्व मानने में मोक्षाभावरूप दोष उपस्थित होता है; वैसे ही स्वाभाविक भोक्तृत्व मान लेने में भी

मोक्षाभावरूप दोष अवश्य ही उपस्थित होगा। कर्तृत्व-भोक्तृत्व अन्तःकरण के धर्म हैं तथा अन्तःकरण प्रकृति का कार्य है। अज्ञानी जीव अज्ञान के कारण आत्मा में कर्तृत्व-भोक्तृत्व का अध्यारोप करके 'अहं कर्ता, अहं भोक्ता' मानने लग जाता है। यह बात अन्वय-व्यतिरेक से भी समझी जा सकती है। देखिये—जाग्रत्, स्वप्न-अवस्था में अन्तःकरण का सम्बन्ध होने के कारण कर्तृत्व-भोक्तृत्व की प्रतीति होती है तथा सुषुप्ति, समाधि, मूर्च्छा में अन्तःकरण का सम्बन्ध न रहने के कारण कर्तृत्व-भोक्तृत्व की प्रतीति नहीं होती। अन्वय व्यतिरेकरूप यह युक्ति आत्मा के स्वाभाविक अकर्तृत्व-अभोक्तृत्व को तथा औपाधिक कर्तृत्व-भोक्तृत्व को स्पष्ट सिद्ध कर देती है। श्रुति भी आत्मा को "असंगो ह्ययं पुरुषः" कहकर स्पष्ट असंग प्रतिपादन करती है। यद्यपि केवल जड़ अन्तःकरण में कर्तृत्व-भोक्तृत्व सम्भव नहीं; तो भी चिद्-अचिद्-ग्रन्थिरूप चिदाभास में कर्तृत्व-भोक्तृत्व हो सकता है। अथवा उक्त श्रुति से तथा सुषुप्ति आदि में कर्तृत्व-भोक्तृत्व की अननुभूति से एवं मोक्ष की अनुपपत्ति रूप युक्ति से आत्मा में कर्तृत्व-भोक्तृत्व सिद्ध न होने के कारण परिशेषन्याय से अन्तःकरण में ही कर्तृत्व-भोक्तृत्व मानना चाहिए।

न्याय आदि का मत

सांख्य, योग और वेदान्त को छोड़कर अन्य सभी दर्शन आत्मा को स्वाभाविक ही कर्ता-भोक्ता स्वीकार करते हैं। उनमें वैष्णव दार्शनिक कर्तृत्व-भोक्तृत्व को ईश्वर-परतन्त्र मानते हैं

और अन्य दार्शनिक कर्तृत्व-भोक्तृत्व को स्वतन्त्र मानते हैं। बस, इतना ही अन्तर है।

सुषुप्तिकाल में अन्तःकरण का सम्बन्ध न रहने के कारण कर्तृत्व-भोक्तृत्व की प्रतीति न होने मात्र से कर्तृत्व-भोक्तृत्व को अन्तःकरण में ही मानना उसी प्रकार उपहास के योग्य है जिस प्रकार लेखनीरूप साधन का अभाव होने पर पुरुष में लेखकत्व न मानकर लेखनी को ही लेखक मान लेना। अथवा काष्ठ आदि पदार्थों में अनारूढ़ अग्नि में दाहकत्व न देखकर काष्ठ आदि दाह्य पदार्थों को ही दाहक मान लेना। यदि कहा जाय कि अन्वय-व्यतिरेक से काष्ठ में दाह्यत्व तथा लेखनी में करणत्व सिद्ध हो जाने से काष्ठ को दाहक और लेखनी को लेखक नहीं माना जा सकता, तो यह युक्ति प्रकृत में भी दी जा सकती है। अन्तःकरण में तो करणत्व है, फिर उसमें कर्तृत्व कैसे हो सकता है? कारण कि कर्ता सदा करण से भिन्न ही होता है।

आपके श्री शंकराचार्यजी ने भी **'ननु विज्ञानशब्दो बुद्धौ समधिगतः कथमनेन जीवस्य कर्तृत्वं सूच्यते इति? नेत्युच्यते। जीवस्यैवेष निर्देशो न बुद्धेः'** (सूत्र २।३।३६) **'करणशक्तिबुद्धेर्हीयेत कर्तृत्वशक्तिश्चापद्येत'** (सूत्र २।३।३८) इन शब्दों द्वारा बुद्धि (अन्तःकरण) में कर्तृत्व का स्पष्ट खण्डन किया है तथा **'मनसैवानुद्रष्टव्यम्' 'दैवं चक्षुः' 'दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या'** आदि मन्त्रों के भाष्य में अन्तःकरण को करण ही माना है। जपाकुसुम में लालिमा की भाँति अन्तःकरण में कर्तृत्व-भोक्तृत्व को किसी प्रमाण से

सिद्ध किये बिना उनका अज्ञान से आत्मा में अध्यारोप भी सिद्ध नहीं किया जा सकता। आत्मा में कर्तृत्व-भोक्तृत्व अध्यारोपित सिद्ध न होने के कारण परिशेषन्याय से कर्तृत्व-भोक्तृत्व स्वाभाविक ही सिद्ध होते हैं तथा सुषुप्ति में उनकी अप्रतीति अन्तःकरणरूप साधन के अभाव के कारण ही होती है।

आत्मा में कर्तृत्व-भोक्तृत्व की सिद्धि 'अहं कर्ता, अहं भोक्ता' इस प्रत्यक्ष अनुभूति से भी होती है। यहाँ यदि ऐसी शङ्का हो कि तब तो 'अहं स्थूलः, अहं काणः' इस प्रत्यक्ष अनुभूति से आत्मा को स्थूल और काना भी मानना होगा। इसका उत्तर यह है कि स्थूलत्व-काणत्व तो अन्वय-व्यतिरेकरूप युक्ति से शरीर और नेत्र इन्द्रिय के धर्म सिद्ध हो जाते हैं। यह बात वादी-प्रतिवादी दोनों को समानरूप से मान्य है, इसलिए स्थूलत्व-काणत्व आत्मा के धर्म नहीं होने से आत्मा को स्थूल या काना मानने की आपत्ति नहीं होगी।

यहाँ एक मुख्य प्रश्न यह भी उठता है कि कर्तृत्व-भोक्तृत्व की भाँति विषयों का स्पष्ट ज्ञान अन्तःकरण के होने पर ही होता है, अन्तःकरण का अभाव होने पर विषयों का स्पष्ट ज्ञान नहीं होता। इसलिए ज्ञान भी आत्मा में स्वाभाविक नहीं, यह ज्ञान भी जड़ अन्तःकरण का ही धर्म है, यह भी मानना पड़ेगा। कारण कि जैसे अन्तःकरण का अन्वय-व्यतिरेक कर्तृत्व-भोक्तृत्व में पाया जाता है; वैसे ही ज्ञान में भी अन्तःकरण का अन्वय-व्यतिरेक पाया जाता है। यहाँ इष्टापत्ति नहीं कर सकते, अन्यथा आत्मा

को ज्ञानरहित स्वीकार कर लेने पर वेदान्तमत के अनुसार आत्मा में जड़ता की आपत्ति होगी।

यदि कहें कि स्पष्ट विषय-अवभासक विशेष ज्ञान को ही आत्मा में स्वाभाविक नहीं मानते; किन्तु सूक्ष्म ज्ञान आत्मा में स्वाभाविक मान्य होने के कारण जड़ता की आपत्ति नहीं होगी तो यह उत्तर भी ठीक नहीं, कारण कि विशेष ज्ञान की तरह विशेष स्पष्ट सुख-दुःख के भोक्तृत्व को तथा विशेष क्रिया के कर्तृत्व को ही अन्तःकरण आदि के सम्बन्ध से आगन्तुक मानिये। सूक्ष्म ज्ञान की तरह सूक्ष्म कर्तृत्व-भोक्तृत्व को भी (कर्तृत्व-भोक्तृत्व-शक्ति को भी) आत्मा में स्वाभाविक मानना चाहिए, क्योंकि कर्तृत्व-भोक्तृत्व की भाँति विशेष ज्ञान में भी अन्तःकरण की अन्वय-व्यतिरेकरूप युक्ति और अनुभूति एक-सी ही है। इतना ही नहीं, किन्तु अन्तःकरण के होने पर ही 'मैं साक्षी हूँ' 'मैं ब्रह्म हूँ' 'मैं कूटस्थ हूँ' इत्यादि सभी स्पष्ट अनुभूतियाँ होती हैं, न होने पर नहीं होतीं, अतः आप वेदान्तियों को समान न्याय से कर्तृत्व-भोक्तृत्व की तरह 'साक्षित्व' 'ब्रह्मत्व' 'कूटस्थत्व' आदि को भी जड़ अन्तःकरण का ही धर्म मानना पड़ेगा। कर्तृत्वपक्ष में 'एष हि द्रष्टा, श्रोता, घ्राता, रसयिता, मन्ता, बोद्धा, कर्त्ता' (प्रश्नोपनिषद ४।९) आदि श्रुति भी समान रूप से उपलब्ध है, फिर भी ज्ञान आदि को आत्मा का स्वाभाविक रूप मानना और कर्तृत्व-भोक्तृत्व को औपाधिकरूप मानना, कहाँ तक ठीक है?

व्यष्टि जड़ बुद्धि में ही कर्तृत्व, भोक्तृत्व, ज्ञातृत्व आदि मान

लेने पर सम्पूर्ण व्यवहार की सङ्गति लग जाने के कारण जड़ बुद्धि से पृथक् चेतन आत्मा को मानने या सिद्ध करने की क्या आवश्यकता है ? एवं समष्टि बुद्धिरूप जड़ प्रकृति में ही जगत् का कर्तृत्व संभव हो जाने के कारण जड़ प्रकृति से पृथक् चेतन ईश्वर को भी मानने या सिद्ध करने की क्या आवश्यकता है ?

कर्तृत्व-भोक्तृत्व को आत्मा में स्वाभाविक मान लेने पर भी मोक्ष की अनुपपत्तिरूप दोष भी प्राप्त नहीं होता। कारण कि शरीर, इन्द्रिय, अन्तःकरण आदि के साथ संयोग का हेतु अज्ञान-सहित धर्म-अधर्मरूप अदृष्ट का अभाव हो जाने के कारण आत्मा में कर्तृत्व-भोक्तृत्व का सामर्थ्य रहने पर भी पुनः बन्धन नहीं होता। जैसे अग्नि में दाहक-योग्यता तथा संसार में दाह्य पदार्थ विद्यमान होने पर भी उनका परस्पर संयोग न होने के कारण दाह नहीं होता। वैसे ही आत्मा में कर्तृत्व-भोक्तृत्व का सामर्थ्य विद्यमान होने पर भी संयोजक = अज्ञानसहित धर्म-अधर्मरूप अदृष्ट न होने के कारण मोक्ष अवश्य ही सम्पन्न हो जायगा। मोक्षप्राप्ति में किसी प्रकार की कोई आपत्ति उपस्थित नहीं होगी।

यदि कहें कि कर्तृत्व-भोक्तृत्व की योग्यता विद्यमान होने पर पुनः कभी बन्धन हो जायगा तो ऐसी आशङ्का आपके सिद्धान्त की भी विघातक होने से नहीं करनी चाहिए। क्योंकि 'यदि आत्मा में कर्तृत्व-भोक्तृत्वरूप बन्ध के अध्यास की योग्यता है तो पुनः बन्ध का अध्यास हो जायगा'—यह आशङ्का आपके पक्ष में भी की जा सकती है। यदि आप कहें कि बन्ध के अध्यास का कारण

अज्ञान नष्ट हो गया, इसलिए पुनः अध्यास नहीं होगा, तो हमारे मत में भी यह उत्तर दे दिया गया है कि बन्ध के कारण अज्ञान-सहित धर्म-अधर्मरूप अदृष्ट का विनाश हो जाने से पुनः बन्ध नहीं हो सकेगा।

'आत्मा को कर्ता मानने पर मोक्ष न होगा' वेदान्ती के इस कथन में यह भी विचारणीय है कि वेदान्त विचाररूप साधन के कर्ता का मोक्ष होता है या न करनेवाले का भी ? प्रथम पक्ष में तो 'कर्ता का ही मोक्ष होता है' यही सिद्ध होगा। द्वितीय पक्ष में विचाररूप साधन न करनेवालों के भी मोक्ष का प्रसङ्ग होगा।

सांख्य ने आत्मा को भोक्ता तो माना; किन्तु कर्ता नहीं माना, यह उनका मत उपहास के योग्य है, कारण कि जो कर्ता होता है वही भोक्ता होता है, यही लोक में देखा जाता है। कर्म करे कोई दूसरा और उसका फल भोगे कोई दूसरा, यह कैसे हो सकता है ?

यद्यपि अन्तःकरण के जड़ होने से एवं करण होने से उसमें कर्तृत्व-भोक्तृत्व सिद्ध नहीं किया जा सकता। इस दशा में कर्तृत्व-भोक्तृत्व अन्तःकरणरूप उपाधि में न होने के कारण आत्मा में कर्तृत्व-भोक्तृत्व अन्तःकरणरूप उपाधि के सम्बन्ध से औपाधिक है, यह सिद्ध नहीं किया जा सकता। थोड़ी देर के लिए आपकी बात मान ली जाय, तो भी संगति नहीं बैठ सकेगी, कारण कि अन्तःकरणगत कर्तृत्व-भोक्तृत्व की प्रतीति असंग आत्मा में अज्ञान के कारण ही आपको (वेदान्ती को) मान्य है। ज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति हो जाने पर कर्तृत्व-भोक्तृत्व की भी पूर्ण निवृत्ति हो

जानी चाहिए, अर्थात् बाधितानुवृत्ति भी नहीं होनी चाहिए, परन्तु बाधितानुवृत्ति आपको मान्य ही है, उसकी संगति किसी भी प्रकार से नहीं बैठ सकती। यदि कहें कि प्रारब्धरूप प्रतिबन्धक के कारण अज्ञानलेश शेष रह जाता है, अतः बाधितानुवृत्ति की संगति बैठ जायगी। तो यह कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि वेदान्त-मत में सम्पूर्ण कार्यों का उपादानकारण अज्ञान है, अतः प्रारब्धरूप कार्य का भी उपादानकारण अज्ञान ही है। उपादानकारणरूप अज्ञान की निवृत्ति हो जाने पर कार्यरूप प्रारब्ध का शेष रह जाना किसी प्रकार भी सम्भव नहीं हो सकता।

दूसरी बात यह है कि प्रारब्ध अपने जनक कर्ता आत्मा का ही अपनी स्थिति तक शरीर, इन्द्रिय, अन्तःकरण से सम्बन्ध बनाये रखने में हेतु हो सकता है। अतः बाधितानुवृत्ति की सङ्गति लगाने के लिए प्रारब्धकर्म को बीच में डालने पर आत्मा को कर्ता अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा। शरीरादि के साथ आत्मा के सम्बन्ध में प्रारब्धकर्म को भी हेतु मानने पर 'शरीरादि अनात्मपदार्थों के साथ आत्मा का सम्बन्ध केवल अज्ञान के कारण है, अतः केवल ज्ञान से ही अज्ञाननिवृत्तिरूप मुक्ति होगी' आपका यह सिद्धान्त भी समाप्त हो जायगा। अज्ञान और कर्म दोनों को हेतु मानने पर तो मोक्ष को भी ज्ञानकर्म के समुच्चय से ही मानना होगा। आपके मतानुसार असंग, अकर्ता, अभोक्ता आत्मा का शरीर, इन्द्रिय, अन्तःकरण के साथ सम्बन्ध तो केवल अज्ञान के कारण ही था। वह अज्ञान निवृत्त हो गया, इसलिए बाधितानुवृत्ति किसी प्रकार

भी नहीं हो सकती। इस मत में यह भी प्रश्न उठ सकता है कि अविद्यालेश की निवृत्ति किस प्रकार होगी? प्रारब्ध-समाप्ति के अन्तिम क्षण में अर्थात् जीवन के अन्तिम क्षण में अविद्यालेश-नाशक तत्त्वज्ञान का उदय होना सुनिश्चित नहीं; अतः मुक्ति सन्दिग्ध हो जायगी। इस प्रकार आत्मा में औपाधिक कर्तृत्व-भोक्तृत्व पक्ष युक्ति, अनुभूति के विरुद्ध होने के कारण माना नहीं जा सकता। इसलिए परिशेषन्याय से तथा युक्ति-अनुभूति-सम्मत होने से आत्मा में कर्तृत्व-भोक्तृत्व स्वाभाविक हैं—यही मानना चाहिए।

सूचना—कर्तृत्व-अकर्तृत्व पर विस्तार से विचार 'साधन-विचार' नाम के मेरे लिखे ग्रन्थ में किया गया है, उसे अवश्य पढ़ें।

——

आत्मा के कर्तृत्वादि का समन्वय

उक्त विवेचन से निम्नलिखित समन्वय-तथ्य प्राप्त होते हैं—

१—अन्तःकरण आदि का सम्बन्ध होने पर ही जाग्रत् और स्वप्न-अवस्था में विशेषरूप से स्पष्ट कर्तृत्व-भोक्तृत्व का अनुभव होता है, इसीसे सभी व्यवहारों की व्यवस्था सम्पन्न होती है, यह सभी को मान्य है।

२—मुक्त-अवस्था में सभी मतों को उक्त विशेष स्पष्ट कर्तृत्व-भोक्तृत्व मान्य नहीं।

३—'आत्मा में स्वाभाविक कर्तृत्व-भोक्तृत्व की योग्यता है'

इस न्याय आदि के मत में तथा 'आत्मा में अध्यारोपित कर्तृत्व-भोक्तृत्व की अधिष्ठानरूप योग्यता है' इस वेदान्त के मत में भी पुनर्बन्ध की आशङ्का और उसका समाधान दोनों समान ही हैं।

४—केवल जड़ अन्तःकरण आदि अनात्मा में तथा केवल आत्मा में उक्त विशेष स्पष्ट कर्तृत्व-भोक्तृत्व न सिद्ध होने के कारण परिशेषन्याय द्वारा ही सभी ने अपने-अपने मत की सिद्धि की है।

हमारा निवेदन है कि उक्त समन्वय-तथ्यों के अनुसार व्यवहार-अवस्था, मुक्त-अवस्था, पुनः बन्ध का अभाव एवं परिशेष-न्याय जब सभी मतों में समानरूप से सिद्ध होते हैं तब विवाद रहा ही कहाँ? वास्तव में शांकर वेदान्त को भी जड़ अन्तःकरण में कर्तृत्व-भोक्तृत्व सिद्ध करना अभीष्ट नहीं। 'आत्मा यदि कर्तृत्व-भोक्तृत्वरूप विकारों से युक्त होगा तो विनाशी सिद्ध हो जायगा' इस युक्ति के साथ तथा "असंगो ह्ययं पुरुषः" इस श्रुति के साथ विरोध-परिहार करने के लिए ही परिशेषन्याय से जड़ अन्तःकरण में कर्तृत्व-भोक्तृत्व का अध्यारोप ही किया है। तथाहि "नेयं श्रुतिरचेतनस्य सत्त्वस्य (=अन्तःकरणस्य) भोक्तृत्वं वक्ष्यामीति प्रवृत्ता, किं तर्हि? चेतनस्य क्षेत्रज्ञस्य अभोक्तृत्वं वक्ष्यामि, तदर्थं सुखादिविक्रियावति सत्त्वे भोक्तृत्वम् अध्यारोपयति,………… परमार्थतस्तु नान्यतरस्यापि सम्भवति अचेतनत्वात् सत्त्वस्य, अविक्रियत्वाच्च क्षेत्रज्ञस्य। अविद्याप्रत्युपस्थापितस्वभावत्वाच्च सत्त्वस्य सुतरां न सम्भवति" (ब्र० सू० शाङ्करभाष्य १।२।१२)।

यह श्रुति अचेतन = जड़ अन्तःकरण में कर्तृत्व-भोक्तृत्व सिद्ध करने के लिए नहीं प्रवृत्त हुई; किन्तु चेतन क्षेत्रज्ञ के अकर्तृत्व-अभोक्तृत्व का प्रतिपादन करने के लिए प्रवृत्त हुई है। उसके लिए सुख आदि विकारवाले अन्तःकरण में कर्तृत्व-भोक्तृत्व का अध्यारोप करती है। वास्तव में दोनों में से किसी में भी भोक्तृत्व सम्भव नहीं हो सकता, कारण कि अन्तःकरण जड़ है और चेतन अविकारी है। अन्तःकरण तो अविद्या का कार्य है इसलिए उसमें कर्तृत्व-भोक्तृत्व किसी प्रकार भी सम्भव नहीं हो सकता।

आत्मा के विभु-अणु-मध्यमपरिमाणों पर विचार

उपक्रम—शरीर से बाह्य प्रदेश में 'मैं हूँ' इस प्रकार प्रत्यक्ष अनुभव होना तो बहुत दूर की बात है, शरीर में ही 'मैं अणु-रूप से एक देश में रहता हूँ' अथवा 'सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होकर रहता हूँ' ऐसा कुछ भी प्रत्यक्ष अनुभव नहीं होता। इसलिए इस विषय पर जो कुछ विचार किया जाता है वह युक्ति के आधार पर ही किया जाता है। प्रथम वादियों की युक्तियों का उल्लेख करके उसके पश्चात् समन्वय दिखाने की चेष्टा की जायगी।

अणुपरिमाणवाद

वैष्णवों का कहना है कि देहान्तर की प्राप्ति, परलोक-गमना-

गमन-साधक युक्ति तथा श्रुति की संगति विभु आत्मा मानने पर सम्यक् प्रकार से नहीं हो सकती। शास्त्र में जो कहीं-कहीं विभु कहा है वह तो आत्मा के अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण तथा सब में प्रवेश योग्य होने के कारण ही कहा है, आकाशवत् सर्वव्यापक होने के कारण नहीं कहा।

शरीर के एक देश में स्थित अणु आत्मा को शरीर के सभी अङ्गों के सुख-दुःख का भान कैसे होगा ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जैसे गृह के एक कोने में स्थित दीपक अपने संकोच-विकास-शील प्रकाशरूप गुण से सम्पूर्ण गृहस्थित पदार्थों को प्रकाशित करता है। उसी प्रकार शरीर के एक स्थान में स्थित अणु आत्मा को अपने संकोच-विकासशील ज्ञानगुण से शरीर के सभी अङ्गों में होनेवाले सुख-दुःख का भान होता है। अतः आत्मा को अणु मानने में किसी प्रकार का कोई दोष प्राप्त नहीं होता।

मध्यमपरिमाणवाद

जैनियों का कहना है कि वैष्णवों ने संकोच-विकासशील ज्ञान-गुण से शरीरव्यापी सुख-दुःख के भान में जो दीपक का दृष्टान्त देकर आत्मा के अणु पक्ष का समर्थन किया है, वह ठीक नहीं। कारण कि जैसे दीपक के समीपदेश में अधिक प्रकाश तथा दूरदेश में न्यून प्रकाश होता है, वैसे ही अणु आत्मा को शरीर में जिस स्थान पर स्थिति स्वीकार करेंगे, उस स्थान के समीपवर्ती अङ्गों के सुख-दुःख का भान अतिस्पष्ट होगा, दूरवर्ती अङ्गों के सुख-

दुःख का भान स्पष्ट नहीं होगा, परन्तु अनुभव से विरुद्ध होने के कारण ऐसा माना नहीं जा सकता। इसलिए परिशेषन्याय से आत्मा को शरीर के बराबर मध्यमपरिमाणवाला मानना ही युक्तियुक्त है।

विभुपरिमाणवाद

न्यायादि षट् दर्शनों का कहना है कि शरीर के साथ-साथ वृद्धि-ह्रास को प्राप्त होनेवाला आत्मा शरीर की भाँति अवश्य ही अनित्य होगा। प्रारब्धवशात् लघु-विशाल शरीरों की प्राप्ति होने पर आत्मा के अवयवों का गमनागमन कहाँ से होगा ? आत्मा के अवयवों का गमनागमन न मानने पर हाथी आदि विशालशरीर-वर्ती विशाल आत्मा के महान् अवयवों का चींटी आदि लघुशरीर में समावेश कैसे होगा ? एवं चींटी आदि लघुशरीरवर्ती लघु आत्मा के अल्प अवयवों से हाथी आदि के विशालशरीर सम्यक् पूर्ण न होने के कारण सम्पूर्ण शरीर में चेतना का सद्भाव कैसे होगा ? इत्यादि अनेकों दोषों के कारण आत्मा को शरीर के साथ-साथ वृद्धि-ह्रास को प्राप्त होनेवाला मध्यमपरिमाण मानना युक्तियुक्त नहीं।

'अणु आत्मा को संकोच-विकासशील ज्ञानगुण के द्वारा शरीर-व्यापी सुख-दुःख का ज्ञान होता है' वैष्णवों का यह कहना भी ठीक नहीं, कारण कि संकोच-विकासरूप में वृद्धि-ह्रास को प्राप्त होने-वाला ज्ञानगुण नित्य नहीं हो सकता। संकोच-विकासशील ज्ञानगुण

यदि नित्य हो सकता है तो वृद्धि-ह्रासशील जैन-अभिमत आत्मा भी नित्य हो सकेगा। फिर भी वैष्णवों ने जो उसका खण्डन किया है, उसे उचित कैसे माना जा सकेगा ? जैनियों के मत में संकोच-विकासशील ज्ञानगुण को अतिरिक्त मानने की आवश्यकता न होने के कारण वैष्णवमत की अपेक्षा लाघव भी है, फिर वही क्यों न मान लिया जाय। इस प्रकार अणु तथा मध्ययपरिमाण पक्ष दोष-युक्त होने के कारण परिशेषन्याय से आत्मा को विभुपरिमाण ही मानना चाहिए।

शरीरव्यापी सुख-दुःख के अनुभव की व्यवस्था न्याय आदि तो अतितीव्र गतिवाले अणु मन से लगाते हैं। वह मन सभी आत्माओं का भिन्न-भिन्न है। जिस आत्मा के अदृष्ट से जो शरीर उत्पन्न होता है, उसी शरीर में वह मन अतितीव्र गति से भ्रमण करके शरीरव्यापी सुख-दुःख का अनुभव कराता है। आत्मा के व्यापक होने पर भी जिस आत्मा के द्वारा किये गये कर्मों के अनुसार जिस शरीर का निर्माण होता है, उस आत्मा के उस शरीर में उस आत्मा के ही मन का गमन होने से आत्मा के गमन का व्यवहार माना जाता है।

सांख्यमत में स्वभाव से व्यापक सत्य अन्तःकरण प्रारब्धवशात् शरीर में अवरुद्ध हो जाता है, उस शरीर-अवरुद्ध अर्थात् शरीर के बराबर मध्यमपरिमाणवाले अन्तःकरण से शरीरव्यापी सुख-दुःख का अनुभव होता है। अन्तःकरण के गमनागमन से ही आत्मा का गमनागमन माना जाता है।

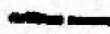
वेदान्तमत में काल्पनिक मध्यमपरिमाणवाले अन्तःकरण से शरीरव्यापी सुख-दुःख का अनुभव होता है। अन्तःकरण के गमनागमन से ही औपाधिक आत्मा के गमनागमन का व्यवहार होता है।

उक्त न्याय आदि मतों में आत्मा के व्यापक होने के कारण आत्मा का सभी शरीरों से सम्बन्ध तो रहता है, परन्तु सभी आत्माओं के मन या अन्तःकरण पृथक्-पृथक् होने के कारण सुख-दुःखभोग का साङ्कर्य नहीं होता, इस प्रकार व्यवस्था लगायी गयी है।

आत्म-एकत्व-नानात्ववाद

एक के सुखी-दुःखी होने से सब के सुखी-दुःखी होने की आपत्ति के कारण तथा एक-आत्मवाद में बद्ध-मुक्त की व्यवस्था न हो सकने के कारण सभी वादियों ने आत्मा को नाना ही माना है। यद्यपि वेदान्त ने आत्मा का एकत्व स्वीकार किया है, तथापि उक्त व्यवस्था के लिए आत्मा का औपाधिक नानात्व वेदान्त ने भी माना ही है। यहाँ विचारणीय यह है कि आत्मा में नानात्व औपाधिक है या स्वाभाविक ? इस प्रश्न का उत्तर आत्मा में कर्तृत्व-भोक्तृत्व स्वाभाविक है या औपाधिक ? इस विचार से सम्बन्ध रखता है। कारण कि स्वाभाविक कर्तृत्व-भोक्तृत्व सिद्ध

होने पर आत्मा का नानात्व मानना अनिवार्य होगा। औपाधिक सिद्ध होने पर एकत्व मानना अनिवार्य होगा। इस पर विचार कर्तृत्व-भोक्तृत्व के प्रकरण में कर ही आये हैं। परिशेषन्याय से दोनों मत स्व-स्व-पक्ष की सिद्धि किस प्रकार करते हैं यह भी दिखा आये हैं।



आत्मपरिमाणसमन्वय

उक्त विवेचन पर निष्पक्ष दृष्टि से विचार करने पर निम्न-लिखित समन्वय-तथ्यों की उपलब्धि होती है।

(क) आत्मा के अणु परिमाण-पक्ष में शरीरव्यापी सुख-दुःख के अनुभव की समुचित संगति नहीं हो पाती।

(ख) आत्मा के मध्यमपरिमाण-पक्ष में लघु-विशाल शरीरों में प्रवेश-अप्रवेश तथा अवयवों के गमनागमन की शङ्का का समुचित उत्तर नहीं हो पाता।

(ग) विभुपरिमाण-पक्षों में गमनागमन की सन्तोषकारक संगति नहीं हो पाती।

१—इन्हीं दोषों को मुख्यरूप से दिखाकर सभी ने स्व-स्व-पक्षों की परिशेषन्याय से सिद्धि की है।

शरीरव्यापी सुख-दुःख-अनुभव की व्यवस्था इस प्रकार की है—

(क) वैष्णवों ने स्वाभाविक विकासशील (व्यापक) ज्ञानगुण को प्राचीनकर्मरूप अविद्या (अदृष्ट) द्वारा शरीर के अनुसार संकोच-विकासशील मानकर मध्यमपरिमाण-वाले ज्ञानगुण से की है।

(ख) जैनों ने वैष्णवों के संकोच-विकासशील ज्ञानगुण के स्थान पर आत्मा को ही कर्मरूप अदृष्टवशात् वृद्धि-ह्रासशील शरीरव्यापी मध्यमपरिमाणवाला मानकर व्यवस्था की है।

(ग) सांख्य, योग ने स्वाभाविक व्यापक सत्य अन्तःकरणको अदृष्टवशात् शरीरव्यापी मध्यमपरिमाण सिद्ध करके उसी से सुख-दुःख के अनुभव की संगति बैठाई है।

(घ) वेदान्त ने स्वाभाविक मध्यमपरिमाणवाले काल्पनिक अन्तःकरण से व्यवस्था लगाई है।

(ङ) न्याय आदि ने अणु मन की अतितीव्र ब्रह्माण्डव्यापी गति को अदृष्टवशात् शरीरव्यापी मानकर शरीरव्यापी सुख-दुःख के अनुभव की संगति दिखाई है।

२—सुख-दुःख के अनुभव की उक्त व्यवस्था पर विचार करके देखा जाय तो सभी ने सुख-दुःख का अनुभव करने के लिए स्वाभाविक व्यापक तथा अदृष्टवशात् शरीरव्यापी मध्यमपरिमाण-वाले तत्त्व को किसी-न-किसी रूप में स्वीकार किया ही है। ऊपर लिखे अनुसार वैष्णवों ने ज्ञानगुण का तथा सांख्य, योग ने अन्तः-

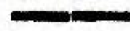
करण का स्वाभाविक व्यापक होना और अदृष्टवशात् शरीर-व्यापी मध्यमपरिमाण हो जाना, ये दोनों बातें स्पष्ट शब्दों में स्वीकार की ही हैं। वेदान्त तथा न्याय को भी योगियों द्वारा भिन्न-भिन्न देश में स्थित विभूतिरूप अनेकों शरीरों के सुख-दुःख का अनुभव होना मान्य ही है। इसके लिए वेदान्त को उन सभी शरीरों में व्यापक अन्तःकरण को मानना ही पड़ता है। एवं न्याय को भी उन सभी शरीरों में व्यापकतीव्रगतिशील मन को स्वीकार करना ही पड़ता है। इसी प्रकार जैनियों को भी विशाल शरीरों की प्राप्ति होने पर आत्मा की उत्तरोत्तर विशालता माननी ही पड़ती है, जिसका पर्यवसान अन्ततोगत्वा व्यापकता में ही होता है। यह युक्ति वेदान्त तथा न्याय के प्रति भी क्रमशः व्यापक अन्तःकरण तथा व्यापकतीव्रगतिशील मन को मनवाने के लिए दी जा सकती है। यहाँ केवल इतना ही अन्तर पड़ता है कि न्याय ने अणु मन को नहीं किन्तु मन की गति को ही अदृष्टवशात् शरीरानुसार सीमित होना माना है।

३—कर्ता-भोक्तारूप में सभी ने आत्मा का नानात्व स्वीकार किया है।

४—आत्मत्व-सामान्य (जाति) की दृष्टि से सभी ने आत्मा का एकत्व भी स्वीकार किया है।

यद्यपि वेदान्त ने आत्मा का स्वरूपतः ही एकत्व स्वीकार किया है, जातितः एकत्व नहीं स्वीकार किया। आत्मा का स्वरूपतः एकत्व मानना ही वेदान्त का मुख्य सिद्धान्त है तथा अन्य दर्शनों

की अपेक्षा यही वेदान्त की अपूर्वता है। तो भी इस स्वरूपतः एकत्व की सिद्धि आत्मा के औपाधिक कर्तृत्व-भोक्तृत्व की सिद्धि के अधीन है। कर्तृत्व-भोक्तृत्व की स्वाभाविकता और औपाधिकता दोनों ही परिशेषन्याय से सिद्ध हो जाती हैं। इसीलिए स्वरूपतः एकत्व का उल्लेख समन्वय-तथ्यों में नहीं किया।



ब्रह्मात्मैक्यविचार

वेदान्त-संस्कारों की प्रबलता के कारण एक अतिविचारणीय प्रश्न यह भी उठता है कि वेदान्त की सर्वाधिक अपूर्वता तो ब्रह्मात्मैक्य ही है, उस पर भी विचार अवश्य करना चाहिए, इसलिए उस पर भी कुछ विचार उपस्थित किये जा रहे हैं।

वेदान्त के मर्मज्ञों को यह विदित ही है कि वेदान्तदर्शन को ब्रह्मात्मैक्य द्वारा आत्मा में व्यापकता का विधान अभीष्ट नहीं, केवल परिच्छिन्नता का निवारण ही अभीष्ट है। व्यापकता का विधान करने पर द्वैत मानना होगा, क्योंकि व्याप्य पदार्थों को स्वीकार किये बिना व्यापकता का विधान सम्भव नहीं। अतः अद्वैतवादी वेदान्त स्वघातक द्वैतरूप व्याप्य पदार्थों को स्वीकार करके व्यापकता का विधान कैसे कर सकता है ? इसीलिए वेदान्त-मर्मज्ञ 'नेति-नेति' निषेधात्मक पदों द्वारा ही शुद्धात्मा को लक्षित करते हैं, विधेयात्मक पदों द्वारा प्रतिपादन नहीं करते।

यहाँ निवेदन यह करना है कि जिस परिच्छिन्नता का निवारण करना वेदान्त को ब्रह्मात्मैक्य द्वारा अभीष्ट है, उस परिच्छिन्नता को दो प्रकार से देखा जा सकता है-(१) अनुभवसिद्ध परिच्छिन्नता, (२) युक्तिसिद्ध परिच्छिन्नता।

(१) परिच्छिन्न अनात्मपदार्थों के साथ तादात्म्य-अध्यास करके 'अहं मनुष्यः' आदि रूपों में जिस परिच्छिन्नता का अनुभव अज्ञानियों को होता है, उसे अनुभवसिद्ध परिच्छिन्नता कहते हैं। यही परिच्छिन्नता सर्वप्रकार के अनर्थों की जननी है।

(२) 'यदि नाना आत्मा होंगे तो आत्मा परिच्छिन्न हो जायँगे' इस युक्ति से सिद्ध परिच्छिन्नता को यौक्तिक परिच्छिन्नता कहते हैं। एवं 'यदि अनात्मा प्रकृति-परमाणु आदि पदार्थं आत्मा से भिन्न और सत्य होंगे तो भी आत्मा परिच्छिन्न हो जायगा' यह भी युक्तिसिद्ध ही परिच्छिन्नता है। क्योंकि अपने से भिन्न अन्य आत्मा का तथा प्रकृति-परमाणुरूप अनात्मपदार्थों का अनुभव न होने से उनसे होनेवाली परिच्छिन्नता का भी अनुभव नहीं हो सकता, इसलिए यह परिच्छिन्नता भी युक्ति से ही सिद्ध होती है।

उक्त दो परिच्छिन्नताओं में से पहली अनुभवसिद्ध परिच्छिन्नता का निवारण तो सभी दार्शनिकों के सिद्धान्तों से हो जाता है, क्योंकि किसी भी दर्शन की प्रक्रिया से परिच्छिन्न अनात्मपदार्थ मात्र से पृथक् शुद्ध आत्मतत्त्व का साक्षात्कार होने पर परिच्छिन्न अनात्मपदार्थ के साथ तादात्म्य से प्राप्त परिच्छिन्नता का निवारण होना अनिवार्य है।

दूसरी युक्तिसिद्ध परिच्छिन्नता का निवारण युक्ति से ही किया जा सकता है, अनुभव से नहीं किया जा सकता। आत्मा का एकत्व या अन्य आत्माओं का अभाव एवं प्रकृति-परमाणुरूप अनात्मपदार्थों का मिथ्यात्व युक्ति से सिद्ध होने पर ही इस युक्ति-सिद्ध परिच्छिन्नता का निवारण किया जा सकता है। इसके लिए अन्ततोगत्वा **परिशेषन्यायरूप** युक्ति का सहारा लेकर ही जैसे वेदान्ती स्वपक्ष का स्थापन करने में समर्थ हो पाता है, वैसे ही अन्य पक्षवाले भी अन्ततोगत्वा **परिशेषन्यायरूप** युक्ति का सहारा लेकर आत्माओं का नानात्व तथा प्रकृति-परमाणुरूप अनात्मपदार्थों की सत्यता का समर्थन करने में समर्थ होते हैं। इस प्रकार युक्तिबल दोनों पक्षों में समान है।

कहने का तात्पर्य यह है कि अपने अनुभव से तो परिच्छिन्न अनात्मपदार्थों से केवल आत्मा की पृथक्ता मात्र ही अनुभव में आती है, वह तो सभी दर्शनों में समानरूप से अनुभव में आ ही जाती है। परिच्छिन्न अनात्मपदार्थों से पृथक्ता का अनुभव होते ही सभी अनर्थों की जड़ कट जाने से परम पुरुषार्थ की सिद्धि भी सभी दर्शनों में समानरूप से हो जाती है। युक्तिसिद्ध परि-च्छिन्नता के खण्डन तथा मण्डन में परिशेषन्यायरूप युक्ति का बल दोनों पक्षों को समानरूप से प्राप्त है।

दूसरे प्रकार की परिच्छिन्नता में एक भेद और है, उस पर मुख्यरूप से यहाँ विचार किया जायगा। वह परिच्छिन्नता यह है कि यदि व्यापक ईश्वर से आत्मा भिन्न होगा तो अवश्य परि-

च्छिन्न होगा। इसी परिच्छिन्नता का निवारण करने के लिए महावाक्य द्वारा दोनों की एकता का बोध होना परम आवश्यक है; जिसपर वेदान्तमत के सिवाय अन्य किसी ने विचार ही नहीं किया। यहाँ विचारणीय यह है कि महावाक्य द्वारा होनेवाली एकता का क्या स्वरूप है ? क्या यह एकता—

१—पात्रस्थ जल तथा समुद्रस्थ जल की एकता की भाँति वस्तुप्रधान दृष्टि से है ?

२—अथवा घटाकाश और महाकाश की एकता की भाँति देशप्रधान दृष्टि से है ?

३—या एक ही पिण्ड का अज्ञानकाल में 'राधेय' और ज्ञान-काल में 'कौन्तेय' नाम की भाँति कालप्रधान दृष्टि से नाम का भेद मात्र है ?

वेदान्त-मर्मज्ञों को यह भलीभाँति विदित ही है कि इनमें से अन्तिम तृतीय पक्ष ही वेदान्तदर्शन को मुख्यरूप से मान्य है। इस तृतीय पक्ष की दृष्टि से विचार करके देखें तो जो तत्त्व अज्ञान-काल में शरीरादि उपाधियों से परिच्छिन्न होने के कारण 'जीव' पद से कहा जाता है; उसी तत्त्व का, ज्ञानकाल में शरीर आदि समस्त परिच्छिन्न पदार्थों से सर्वथा विमुक्त शुद्धरूप में जब बोध होगा तब ब्रह्म का बोध क्या पृथक् शेष रह जायगा ? यह तभी कहा जा सकता है जब उक्त शुद्ध आत्मतत्त्व से ब्रह्म भिन्न होता। जब कि शुद्ध आत्मतत्त्व का ही दूसरा नाम ब्रह्म है तब शुद्ध आत्मतत्त्व का बोध तो हो गया और ब्रह्मतत्त्व का बोध होना

शेष रह गया, यह कैसे कहा जा सकता है ? हाँ, अधिक-से-अधिक इतना ही कहा जा सकता है कि 'इसी शुद्ध आत्मतत्त्व का ही दूसरा नाम ब्रह्म है' ऐसा ज्ञान उसको नहीं होता। यहाँ यह निवेदन है कि 'राधेय' नाम से कहे जानेवाले पिण्ड का प्रत्यक्ष अनुभव हो जाने पर यदि किसी व्यक्ति को 'इसी पिण्ड का दूसरा नाम 'कौन्तेय' है' ऐसा बोध न हो तो पिण्डतत्त्व के बोध में क्या कुछ न्यूनता रह जायगी ? कहना होगा कि कुछ भी न्यूनता नहीं रह जायगी। इसी प्रकार शरीरादि से भिन्न शुद्ध आत्मतत्त्व का बोध होने पर ब्रह्मतत्त्व का बोध अवश्य हो जायगा यह भी मानना ही पड़ेगा।

शरीरादि परिच्छिन्न अनात्मपदार्थों से सर्वथा विमुक्त जिस शुद्ध आत्मतत्त्व को ब्रह्म नाम से वेदान्ती कथन करते हैं, उस आत्मतत्व का बोध तो सभी दार्शनिकों की प्रक्रिया से हो ही सकता है, क्योंकि सभी दर्शनकारों ने शरीरादि परिच्छिन्न अनात्मपदार्थों से आत्मा को सर्वथा विमुक्त ही माना है। यह सब पीछे कथन कर ही चुके हैं।

कर्तृत्व-अकर्तृत्व, भोक्तृत्व-अभोक्तृत्व, अणुता-विभुता, ज्ञानरूपता-ज्ञानगुणता के विवाद रहते हुए अनात्मभिन्नतारूप साम्य मात्र से वेदान्त की अन्य दर्शनों से समता कैसे हो सकती है ? इस आशङ्का का यही उत्तर है कि 'शरीर आदि अनात्मा से आत्मा भिन्न है' इतना ही अनुभव होता है और इतना अनुभव सभी सिद्धान्तों की प्रक्रिया से हो ही जाता है। अणुता-विभुता आदि का स्पष्ट अनुभव केवल आत्मा में होता ही नहीं, उसका कथन-युक्ति

तथा परिशेषन्याय के बल पर किया गया है। युक्ति तथा परिशेषन्यायरूप बल सभी सिद्धान्तों को समानरूप से प्राप्त है। ऐसी दशा में किसी एक सिद्धान्त को ही सत्य मानना, अन्य को असत्य या अवान्तर सत्य कहना तटस्थ निष्पक्ष विचारक के लिए शोभा नहीं देता। अतः तटस्थ होकर निष्पक्ष दृष्टि से देखा जाय तो सभी दर्शनों में विरोध न दीखकर समन्वय ही स्पष्ट रूप में दीखने लगता है।

आत्मवाद-उपसंहार

ऊपर लिखे आत्मवादसमन्वय के सभी प्रकरणों का ध्यान-पूर्वक अध्ययन तथा मनन-परिशीलन करने से यह अत्यन्त स्पष्ट हो जाता है कि सभी दर्शनों ने सार्वजनिक विवादरहित अनुभूतियों का भिन्न-भिन्न प्रक्रियाओं से स्वानुभूति, युक्ति का अनुसरण करते हुए ही विवेचन किया है। विवेचन करने की प्रक्रियाओं की विलक्षणता तथा पारिभाषिक शब्दों की विलक्षणता के कारण एक ही तत्त्व को परस्पर विरुद्ध शब्दों तथा रूपों में किस प्रकार उपस्थित किया है, उस परस्पर विरुद्धता में परस्पर अविरुद्धता कैसे विद्यमान है। इस रहस्य को समझ लेने पर 'परस्पर विरुद्ध कथन करनेवाले ये सभी दार्शनिक अज्ञानी हैं' यह भ्रान्ति स्वतः ही दूर हो जाती है। केवल भ्रान्ति ही दूर नहीं होती अपितु

'ये सभी दार्शनिक तत्त्वज्ञानी हैं' यह भी निश्चय हो जाता है।

जैसे एक ही वस्तु का भिन्न-भिन्न दिशाओं में स्थित व्यक्तियों को साक्षात् प्रत्यक्ष अनुभव होता है। 'किस दिशा में वस्तु है' ऐसा प्रश्न उनसे करने पर वस्तु से पूर्व दिशा में स्थित व्यक्ति उसे पश्चिम दिशा में कहता है, एवं वस्तु से पश्चिम-दक्षिण-उत्तर दिशा में स्थित व्यक्ति उस वस्तु को क्रमशः पूर्व-उत्तर-दक्षिण दिशा में बतलाते हैं। 'दिशाओं का कथन व्यक्ति की स्थिति की अपेक्षा से होता है' इस मर्म को जाननेवाला व्यक्ति उस वस्तु को सर्वदिशा में बतलाता है। 'व्यवहार में काम चलाने के लिए दिशाओं की कल्पना कर ली गई है वस्तुतः दिशा नाम की कोई चीज है नहीं,' इस दृष्टि से देखनेवाला व्यक्ति कहता है कि वस्तु किसी भी दिशा में नहीं। इन सभी व्यक्तियों के उत्तर परस्पर विरुद्ध होने मात्र से यह नहीं कहा जा सकता कि 'किसी को भी वस्तु का प्रत्यक्ष अनुभव नहीं हुआ, सभी अज्ञानी ही हैं'। ऐसी भ्रान्ति तभी तक होती है जब तक 'किस व्यक्ति ने वस्तु के किस बाजू में बैठकर वस्तु को देखा है, या दिशा-तत्त्व पर वह किस दृष्टि से विचार करता है' इन बातों पर ध्यान नहीं देते। इन बातों पर ध्यान देते ही भ्रान्ति दूर होकर सभी के कथन सत्य प्रतीत होने लगते हैं और उन परस्पर विरुद्ध कथनों में समन्वय भी दीखने लगता है।

वैसे ही किस दर्शन ने किस प्रक्रिया से किस तत्त्व का किन संस्कारों से प्रभावित होकर विवेचन किया है, उनके लिए किन-किन

पारिभाषिक शब्दों का उल्लेख किया है, उनमें उनका हार्दिक अभि-प्राय क्या है ? दूसरे दर्शनवाले उस तत्त्व का किस प्रक्रिया से किन-किन संस्कारों से प्रभावित होकर विवेचन करते हैं, उनके लिए किन-किन पारिभाषिक शब्दों का उल्लेख करते हैं ? इन बातों का तटस्थ निष्पक्ष सूक्ष्म दृष्टि से अध्ययन-मनन-परिशीलन करने पर स्पष्ट मालूम होने लगता है कि एक ही अतीन्द्रिय वस्तु का दर्शन-कारों ने भिन्न-भिन्न प्रक्रियाओं से विवेचन किया है उनके कथनों में आपाततः ही विरोध है, वस्तुतः विरोध नहीं। सभी दर्शनकार इस रहस्य को जानते थे तो भी साधक को अपने-अपने सिद्धान्त में पूर्ण निष्ठा कराने के लिए ही अन्य सिद्धान्तों का खण्डन किया है, अन्य दर्शनकारों को अज्ञानी मानकर राग-द्वेषपूर्वक उनका खण्डन नहीं किया, ऐसा स्पष्ट अनुभव होने लगता है।

जैसे वस्तु से पूर्व दिशा में स्थित व्यक्ति वस्तु का पश्चिम दिशा में प्रत्यक्ष अनुभव करके दृढ़तापूर्वक कहता है कि वस्तु पश्चिम दिशा में ही है, उत्तर आदि दिशाओं में नहीं। इतना ही नहीं किन्तु उत्तर आदि दिशाओं में वस्तु को कहनेवालों का आग्रहपूर्वक खण्डन भी करता है। जब अभिनिवेश छोड़कर वस्तु को उत्तर आदि दिशाओं में कहनेवाले व्यक्तियों के स्थानों में स्वयं स्थित होकर वस्तु को देखता है तो उसे स्वयं भी वह वस्तु उत्तर आदि दिशाओं में दीखती है। वैसे ही साधक जब वेदान्त-प्रक्रिया का आश्रय लेकर आत्मतत्त्व का साक्षात्कार करता है तो आत्मा को 'अकर्ता-अभोक्ता ज्ञानरूप ही है' ऐसा दृढ़तापूर्वक कहता है,

'कर्ता-भोक्ता ज्ञानगुणवाला आत्मा है' ऐसा कहनेवाले नैयायिक का आग्रहपूर्वक खण्डन करता है। जब आग्रह छोड़कर तटस्थ निष्पक्ष भाव से नैयायिक की प्रक्रिया का परिशीलन करता है तो उस प्रक्रिया के अनुसार उसे स्वयं भी 'कर्ता-भोक्ता ज्ञानगुणवाला आत्मा है' ऐसा कहना पड़ता है, तब स्वमत का आग्रह दूर होते ही दोनों परस्पर विरुद्ध प्रतीत होनेवाले मतों में समन्वय भी अनुभव में आने लगता है।

इस समन्वयदृष्टि के उदय हो जाने पर मेरा महान् असन्तोष समाप्त हो जाने के कारण महान् सन्तोष प्राप्त हुआ। वह असन्तोष एक तो यह था कि यदि एक वेदान्तदर्शन ही परम सत्य दर्शन है तो तत्-तत् देश-काल-परिवार में उत्पन्न होने के कारण तथा जन्मान्तरीय संस्कारों की विचित्रता के कारण वेदान्तदर्शन से भिन्न दर्शनों के अनुसार साधना करनेवाले सच्चे विरक्त जिज्ञासुओं को क्या भ्रान्ति में ही पड़ा रहना होगा? दूसरा यह असन्तोष था कि सरल चित्त पर-प्रदर्शित मार्ग-अनुगामी उक्त जिज्ञासुओं के अतिरिक्त तत्-तत् दर्शनों के प्रौढ़ विद्वानों ने सर्वदर्शनों का सम्यक् अध्ययन-मनन-परिशीलन करके भी स्व-स्व-दर्शनशास्त्र में आग्रह तथा परम सत्य वेदान्तदर्शन का परित्याग तथा खण्डन क्यों किया? ये दोनों असन्तोष बहुत क्लेश देते थे। सभी दर्शनों की सम्यक्ता का ज्ञान होने से पहला असन्तोष नष्ट हो गया। साधनों की स्व-स्व-सिद्धान्त में निष्ठा कराने के लिए ही अन्य दर्शनों का परित्याग तथा खण्डन किया गया है, यह समझ में आ जाने के कारण दूसरा असन्तोष भी नष्ट हो गया तथा महान् सन्तोष प्राप्त हुआ।

नम्र निवेदन

यद्यपि उक्त प्रकार से सभी दर्शन यथार्थ तथा परम कल्याणकारी ही हैं और उनमें समन्वय भी विद्यमान है, ऐसा मुझे स्पष्ट प्रतीत होता है। तथापि बारम्बार सविनय सानुरोध निवेदन है कि साधक को पहले तो अपनी योग्यता एवं संस्कारों के अनुसार किसी एक दर्शन की प्रक्रिया का आश्रय लेकर अपने श्रद्धेय महापुरुष के माध्यम से अपनी हृदयस्थ शङ्काओं का निवारण करके आत्मसाक्षात्कार कर लेना चाहिए। इसके बाद यदि बौद्धिक योग्यता और अभिरुचि हो तो प्रथम अपने सिद्धान्त के प्रौढ़ गम्भीर ग्रन्थों का गम्भीरतापूर्वक अध्ययन-मनन करना चाहिए। तत्पश्चात् परकीय सिद्धान्तों के प्रौढ़ गम्भीर ग्रन्थों का भी तटस्थ निष्पक्ष गुणग्राही दृष्टि से गम्भीरतापूर्वक परिशीलन करना चाहिए। इस प्रकार विद्यानन्द के द्वारा विषयानन्द का अतिक्रमण करके जीवन्मुक्ति का आनन्द प्राप्त कर लेना चाहिए। यदि बौद्धिक योग्यता और अभिरुचि न हो तो स्व-सिद्धान्तानुसार साक्षात्कार किये हुए आत्मतत्त्व में दीर्घकालीन निरन्तर अभ्यास द्वारा निष्ठा का परिपाक करना चाहिए। उस परिपक्व निष्ठानन्द से विषयानन्द को तुच्छ करके जीवन्मुक्ति का आनन्द लेना चाहिए। अनादि चिरकाल से दृढ़ विषयानन्द का तिरस्कार परिपक्व दृढ़ निष्ठानन्द या विद्यानन्द के बिना केवल विचारमात्र से सम्भव नहीं, क्योंकि विचार तो विषयानन्द के तिरस्कार की युक्ति मात्र ही प्रदान करता है, विषयानन्द का अतिक्रमण तो उत्कृष्ट निष्ठानन्द या विद्यानन्द से

ही हो सकता है, अन्यथा नहीं। अतः योग्यता और अभिरुचि के अनुसार निष्ठानन्द या विद्यानन्द में से किसी एक का अवश्य सम्पादन करना चाहिए, अन्यथा कृतकृत्यता का अनुभव न होगा।

जो साधक तत्त्व-विचार करने में असमर्थ हैं उन्हें तो भिन्न-भिन्न दर्शनशास्त्रों का अध्ययन या श्रवण करना ही नहीं चाहिए, नहीं तो परस्पर एक दूसरे का खण्डन पढ़-सुनकर कहीं भी श्रद्धा न रहने के कारण वे साधन-पथ से भ्रष्ट हो जायँगे। तत्त्व विचार करने में असमर्थं साधकों को तो श्रद्धास्पद महापुरुष के द्वारा निर्दिष्ट साधना में ही तत्परतापूर्वक संलग्न हो जाना चाहिए, इसीसे उनका कल्याण हो जायगा। गीता में स्पष्ट कहा है—

'तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥' (१३।२५)

आत्मवाद-विचार का मुमुक्षु के लिए उपयोग

शरीर आदि अनात्मपदार्थों को आत्मा मान लेने के कारण ही आत्मा अनेकों दुःखों को प्राप्त होता है। किसी भी दर्शन की प्रक्रिया का आलम्बन लेकर शरीर आदि अनात्मपदार्थों से आत्मा को पृथक् जान लेने पर दुःख के हेतु की समाप्ति हो जाती है, जो कि दुःख से मुक्ति चाहनेवाले मुमुक्षु के लिए परम उपादेय है। आत्मवादों के समन्वय का ज्ञान हो जाने पर मुमुक्षु की स्व-सिद्धान्त में आस्था तथा पर-सिद्धान्तों में अनास्था का अभाव होकर उनके प्रति भी समादर का भाव हो जाता है।

(प्रथम खण्ड समाप्त)

॥ हरिः ॐ तत्सत् ॥

ॐ

श्री गणेशाय नमः

द्वितीय खण्ड

जगत-कारणवाद

अखण्डानन्दबोधाय शिष्यसन्तापहारिणे।
सच्चिदानन्दरूपाय रामाय गुरवे नमः॥

उपक्रम—यद्यपि जगत की रचना का मन से भी चिन्तन करना सम्भव नहीं, तथापि जगत की रचना अत्यन्त व्यवस्थित है। इस कार्यरूप जगत को देखकर इसके उपादान-कारण के रूप में किसी पदार्थ की कल्पना सहज ही होती है। एवं व्यवस्थित कार्य को देखकर किसी व्यवस्थापक और उत्पादक के रूप में किसी निमित्तकारण की कल्पना भी सहज ही होती है।

मानव-अनुभूति-गम्य स्थूल कार्यस्थलों में गृहीत व्याप्तियों के आधार पर जगत के मूलकारण को जानने का प्रयास मनीषियों ने किया है। जगत की विचित्र रचना के कारण तथा विचारक बुद्धिमानों की बुद्धि की विचित्रता और संस्कारों की विचित्रता के कारण वे विचारक किस प्रकार भिन्न-भिन्न निर्णयों पर पहुंचे हैं, उन भिन्न-भिन्न विरुद्ध-से प्रतीत होनेवाले निर्णयों में किस प्रकार कहां तक समन्वय हो सकता है, इसी बात

पर यथामति संक्षेप में प्रकाश डालने का प्रयास इस खण्ड में किया जायगा।

प्रथम तो परमत-खण्डनपूर्वक स्वमत-मण्डन किन युक्तियों से वादी करते हैं, इसका संक्षेप में दिग्दर्शन कराके तत्पश्चात् समन्वय प्रदर्शन करने का प्रयास किया जायगा। स्वमत-मण्डन और परमत-खण्डन की मुख्य-मुख्य युक्तियों का ही उल्लेख किया जायगा, विस्तार से वर्णन तो उनके ग्रन्थों से ही जानना चाहिए।

जगत-उपादान-कारणवाद

आरम्भवाद = असत्कार्यवाद

परमाणुवाद—न्याय तथा वैशेषिक शास्त्र का कहना है कि पट तन्तुओं के संयोग से बनता है, एवं तन्तु अंशुओं के संयोग से बनते हैं, यह प्रत्यक्ष अनुभव से निर्विवाद सिद्ध है। इसी प्रकार विपरीत क्रम से अवयवों का विभाजन करते चले जायँ तो अन्तिम अवयव को अविभाज्य एवं निरवयव मानना ही होगा। अन्यथा अनवस्था दोष होगा, तथा सरसों और सुमेरुपर्वत इन दोनों में अनन्त अवयवरूप समानता होने के कारण सरसों और सुमेरु-पर्वत के परिमाण में भेद न होगा, परन्तु अनुभव विरुद्ध होने के कारण यह किसी को भी मान्य नहीं हो सकता।

पृथ्वी, जल, तेज, वायु, इन चार महाभूतों के पृथक्-पृथक् चार प्रकार के परमाणु होते हैं। ये परमाणु क्रमशः गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, इन मुख्य गुणों से युक्त होते हैं। वायु के बाद तेज आदि के परमाणु में उत्तरोत्तर एक-एक गुण अधिक रहता है। इसलिए वायु के परमाणु केवल एक स्पर्श गुण से युक्त हैं। तेज के परमाणु में स्पर्श तथा रूप, ये दो गुण रहते हैं। जल के परमाणु में स्पर्श, रूप, रस, ये तीन गुण रहते हैं। पृथ्वी के परमाणु में स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, ये चार गुण रहते हैं।

सजातीय परमाणुओं के संयोग से द्वि-अणु, त्रसरेणु आदि क्रम से कार्यरूप पृथ्वी आदि चारों महाभूतों की उत्पत्ति होती है। उन पृथ्वी आदि भूतों से घट-मठ आदि कार्य उत्पन्न होते हैं। न्याय-वैशेषिक कारण से कार्य का सर्वथा भेद ही मानते हैं। इसके समर्थन में नीचे लिखी युक्तियाँ देते हैं।

१. उत्पत्ति से पूर्व एवं विनाश के बाद घट-मठ आदि कार्य उपलब्ध नहीं होते।

२. 'यह घट है' 'यह कपाल है' इस प्रकार क्रमशः कार्य तथा कारण के ज्ञानों में भेद होता है।

३. 'घट' 'कपाल' इस प्रकार कार्य तथा कारण के नामों में भेद होता है।

४. घटरूप कार्य से जल लाया जा सकता है, कपालरूप कारण से जल नहीं लाया जा सकता।

५. घट तथा कपाल के आकारों में भेद होता है।

६. घट एकत्व संख्या से और कपाल अनेकत्व संख्या से युक्त होता है।

इस प्रकार (१) स्थिति (२) ज्ञान (३) नाम (४) क्रिया (५) आकार (६) संख्या का भेद होने के कारण कार्य से कारण को सर्वथा भिन्न ही मानना चाहिए। कार्य का कारण से सर्वथा भेद होने पर भी अश्व से महिष की भाँति कारण से

सजातीय परमाणुओं के संयोग से द्वि-अणु, त्रसरेणु आदि क्रम से कार्यरूप पृथ्वी आदि चारों महाभूतों की उत्पत्ति होती है। उन पृथ्वी आदि भूतों से घट-मठ आदि कार्य उत्पन्न होते हैं। न्याय-वैशेषिक कारण से कार्य का सर्वथा भेद ही मानते हैं। इसके समर्थन में नीचे लिखी युक्तियां देते हैं।

१. उत्पत्ति से पूर्व एवं विनाश के बाद घट-मठ आदि कार्य उपलब्ध नहीं होते।

२. 'यह घट है' 'यह कपाल है' इस प्रकार क्रमशः कार्य तथा कारण के ज्ञानों में भेद होता है।

३. 'घट' 'कपाल' इस प्रकार कार्य तथा कारण के नामों में भेद होता है।

४. घटरूप कार्य से जल लाया जा सकता है, कपालरूप कारण से जल नहीं लाया जा सकता।

५. घट तथा कपाल के आकारों में भेद होता है।

६. घट एकत्व संख्या से और कपाल अनेकत्व संख्या से युक्त होता है।

इस प्रकार (१) स्थिति (२) ज्ञान (३) नाम (४) क्रिया ५) आकार (६) संख्या का भेद होने के कारण कार्य से कारण को सर्वथा भिन्न ही मानना चाहिए। कार्य का कारण से सर्वथा भेद होने पर भी अश्व से महिष की भाँति कारण से पृथक् देश में, पृथक् काल में कार्य की उपलब्धि नहीं होती, इसका

कारण यह है कि कारण में कार्य समवाय सम्बन्ध से रहता है इसी से पृथक् उपलब्धि नहीं होती।

यदि कारण से कार्य का सर्वथा भेद ही है तो कारण का गुरुत्व (वजन) और कार्य का वजन दोनों मिलाकर कारण के वजन की अपेक्षा कार्य का वजन अधिक होना चाहिए ? ऐसी शङ्का करना ठीक नहीं, क्योंकि परमाणु से लेकर घट पर्यन्त मध्य के सभी कार्यों का वजन घट में रहता है, इसलिए अल्पज्ञ मनुष्य को यह ज्ञान नहीं हो सकता कि कितना गुरुत्व (वजन) कारण का है और कितना गुरुत्व कार्य का है, अतः अल्पज्ञ मनुष्य की उक्त शङ्का ठीक नहीं। (न्यायवार्तिक)

यदि कहें कि घट से कपाल जैसे सर्वथा भिन्न है, वैसे ही घट से तन्तु भी सर्वथा भिन्न हैं, भिन्नता समान होने पर भी कपालों से ही घट उत्पन्न होता है, तन्तुओं से घट उत्पन्न नहीं होता, इसमें क्या कारण है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जिस कार्य का जिस कारण में प्रागभाव होता है, उस कार्य की उसी कारण से उत्पत्ति होती है, अन्य कारण से उत्पत्ति नहीं होती। किस कार्य का किस कारण में प्रागभाव रहता है, इस बात का ज्ञान अन्वय-व्यतिरेक-रूप युक्ति से ही होता है।

निरवयव परमाणुओं का संयोग कैसे होगा ? किसी प्रकार मान लें तो भी यदि सर्वात्मना संयोग होगा तो स्थूलता न हो सकेगी ? यदि एक देश में संयोग माना जायगा तो परमाणु साव-यव मानने होंगे ? इत्यादि आशङ्काएँ भी निःसार ही हैं, क्योंकि

संयोग होने में स्पर्शवत्त्व और मूर्तत्व (परिच्छिन्नत्व) ही प्रयोजक (हेतु) होते हैं, न कि सावयवत्व। स्थूलता की उत्पत्ति में भी कोई बाधा नहीं आती, इसका कारण यह है कि समवाय सम्बन्ध से एक देश में स्थित होना ही स्थूलता का विरोधी होता है, उसे परमाणु में मानते ही नही। कार्य, गुण, जाति, सम्बन्ध रूप न होने से एक परमाणु दूसरे परमाणुओं के साथ समवाय सम्बन्ध से सम्बन्धित ही नहीं होता, किन्तु परमाणु द्रव्य होने के कारण संयोग सम्बन्ध से ही सम्बन्धित होता है, यही संयोग सम्बन्ध स्थूलता का हेतु है। (न्यायवार्तिक-तात्पर्यटीका ४ । २ । २४-२५)

[मेरे बिचार से तो 'निरवयव परमाणुओं का संयोग कैसे होगा ?' इस प्रश्न का सीधा सरल बुद्धिगम्य उत्तर यह भी दिया जा सकता है कि परमाणुओं की सिद्धि ही जब सावयव संयुक्त पदार्थों के विभाजन से होती है, तब उन परमाणुओं में संयोग की योग्यता तो माननी ही चाहिए, अन्यथा सावयव पदार्थों की सिद्धि ही नहीं हो सकती।]

प्राणियों के अदृष्ट-सापेक्ष ईश्वर की प्रेरणा से परमाणुओं में संयोग होता है। यदि कहें कि अदृष्ट तो आत्मा में ही रहता है, जब कि अदृष्ट का परमाणुओं से कोई सम्बन्ध है ही नहीं, तब अदृष्ट को परमाणुओं के संयोग में हेतु कैसे माना गया ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि व्यापक होने से ईश्वर का परमाणुओं से तथा जीवों से भी सम्बन्ध है ही, उन्हीं जीवों में धर्म-अधर्मरूप अदृष्ट रहता है। इस तरह परम्परा से अदृष्ट का सम्बन्ध परमाणुओं से भी होने के

कारण अदृष्ट को परमाणुओं के संयोग में हेतु मानना ठीक ही है।

न्यायदर्शन ऊपर लिखी युक्तियों से स्वपक्ष का प्रतिपादन करता है, तथा निम्नलिखित युक्तियों से परपक्षों का खण्डन करके परिशेष न्याय से स्वपक्ष की पुष्टि भी करता है।

सांख्यमत-खण्डन—एकरूपा प्रकृति से अनेकरूप विचित्र जगत की सृष्टि नहीं हो सकती। प्रकृति त्रिगुणात्मक होने पर भी प्रलयकाल में एकरूपता को प्राप्त हो जाती है। उस एकरूपा प्रकृति से अनेकरूपवाले विचित्र कार्यों की उत्पत्ति का समर्थन नहीं किया जा सकता। अदृष्टरूप धर्म-अधर्म द्वारा भी प्रकृति की साम्यावस्थारूप एकरूपता भंग नहीं हो सकतो, क्योंकि अदृष्टरूप धर्म-अधर्म भी प्रकृति का कार्य होने के कारण प्रलयावस्था में उसका भी पृथक् अस्तित्व नहीं रह सकता।

यदि कारण से कार्य का सर्वथा अभेद होता हो, तो कार्य के नाश से कारण का भी नाश हो जाना चाहिए, अथवा कारण के नित्य होने से कार्य को भी नित्य होना चाहिए, परन्तु अनुभव विरुद्ध होने से इसे मान नहीं सकते। कार्य से कारण का सर्वथा अभेद मानने पर 'यह कारण है' और 'यह कार्य है' ऐसा विभाग (भेद) पूर्वक कथन ही संभव न हो सकेगा, तथा कार्य से कारण का अनुमान भी न किया जा सकेगा।

नित्य कारण से कार्य का सर्वथा अभेद मानने पर कार्य को भी नित्य मानना होगा, ऐसो दशा में कार्य के उत्पादन का प्रयास नहीं करना चाहिए। यदि कहें कि कार्य की उत्पत्ति के लिए नहीं,

किन्तु कार्य की अभिव्यक्ति के लिए करणव्यापाररूप प्रयास किया जाता है। यह उत्तर भी ठीक नहीं, क्योंकि सभी को सत् माननेवाले सांख्य को अभिव्यक्ति तथा प्रयत्न को भी सत् (प्रथम से विद्यमान) मानना होगा, अन्यथा स्वसिद्धान्त का परित्याग होगा, तथा असत्कार्यवाद ग्रहण करना पड़ेगा। यदि अभिव्यक्ति को असत् = अनित्य कार्यरूप माना जाय तो कार्य मात्र को सत् माननेवाले सांख्यशास्त्र को अभिव्यक्ति को भी सत् (प्रथम से विद्यमान) मानना ही होगा, ऐसी दशा में प्रयास की व्यर्थतारूप दोष अवश्य ही होगा। यदि अभिव्यक्ति की उत्पत्ति न मानकर अभिव्यक्ति की भी अभिव्यक्ति ही मानेंगे, तो अनवस्था दोष तथा पूर्वोक्त प्रकार से प्रयास-व्यर्थता आदि दोष अवश्य होंगे।

कार्य से कारण का सर्वथा अभेद होता हो तो कार्यरूप घट के नाम-रूप-ज्ञान-क्रिया आदि सभी व्यवहार कारणरूप मृत्तिका से ही हो जाने चाहिए, किन्तु व्यवहार में कहीं भी ऐसा देखने में नहीं आता। अतः कार्य से कारण का सर्वथा अभेद और कार्य का सत् होना किसी प्रकार भी संभव न होने के कारण सांख्य का सत्कार्यवाद ठीक नहीं।

चेतन-उपादानवाद-खण्डन—केवल चेतन ईश्वर को जड़ जगत का उपादानकारण मानना उतना ही असङ्गत है, जितना चेतन का उपादानकारण जड़ पदार्थ को मानना असंगत है। इस दोष को दूर करने के लिए श्रीरामानुजाचार्यजी ने जड़ प्रकृति को चेतन-ईश्वर का अपृथक्सिद्ध विशेषण मानकर प्रकृतिविशिष्ट चेतन-

ईश्वर को जगत का अभिन्न-निमित्त-उपादानकारण माना। श्री-
निम्बार्काचार्यजी ने जड़ प्रकृति का चेतन ईश्वर से भेदाभेद सम्बन्ध मानकर ईश्वर को जगत का अभिन्न-निमित्त-उपादानकारण माना। श्रीचैतन्यमहाप्रभु ने जड़ प्रकृति का अचिन्त्यभेदाभेद सम्बन्ध माना। श्रीवल्लभाचार्यजी ने अभेद, और श्रीशङ्कराचार्यजी ने अनिर्वचनीय (अर्थात् काल्पनिक भेद वास्तविक अभेद) सम्बन्ध चेतन से मानकर क्रमशः उक्त सम्बन्धों से युक्त जड़ प्रकृति विशिष्ट चेतन-ईश्वर को जगत का अभिन्न-निमित्त-उपादानकारण माना है।

इन सभी मतों में किसी-न-किसी रूप में जड़ जगत का उपादानकारण चेतन को माना ही है, जो कि सर्वथा असंभव होने से नहीं हो सकता, क्योंकि जड़ कार्य का जड़ ही उपादान हो सकता है, चेतन नहीं हो सकता। इस दोष का निवारण चेतन ईश्वर को जड़ प्रकृति के साथ उक्त किसी प्रकार के सम्बन्ध से सम्बन्धित कर देने पर भी नहीं हो सकता, क्योंकि उक्त सभी मतों में जड़ प्रकृति का चेतन ईश्वर से सर्वथा भेद न मानकर किसी-न-किसी रूप में अभेद भी माना गया है। इससे एक नया दोष यह और होता है कि परिणामी प्रकृति से अभेद सम्बन्धवाला चेतन ईश्वर भी परिणामरूप दोष से युक्त हो जायगा।

यदि कहा जाय कि जिन मतों में जड़ प्रकृति का चेतन ईश्वर से सत्य सम्बन्ध माना है उन्हीं मतों में उक्त दोष होंगे। श्रीशङ्कराचार्यजी के मत में आविद्यक = काल्पनिक = मिथ्या सम्बन्ध मान्य होने के कारण उक्त दोष न होंगे, तो यह कथन भी ठीक नहीं, क्योंकि

ज्ञानस्वरूप चेतन ब्रह्म में अज्ञानरूप अविद्या का होना वैसे ही असंभव है जैसे प्रकाशस्वरूप सूर्य में अन्धकार का होना असम्भव है। जींव भी ब्रह्म से अतिरिक्त मान्य न होने के कारण 'जीव में अविद्या है, ज्ञानस्वरूप ब्रह्म में अविद्या नहीं,' ऐसा कथन करके भी उक्त दोष का परिहार नहीं कर सकते। अतः चेतन को जड़ जगत का उपादानकारण मानना किसी प्रकार युक्तियुक्त नहीं। विद्या से अविद्या की निवृत्ति हो जाने पर भी जगतरूपी कार्य की उपलब्धि होती रहती है, इसलिए केवल अविद्या को जगत का उपादानकारण मानना भी ठीक नहीं।

क्षणिकविज्ञानवाद-खण्डन—क्षणिक विज्ञान ही वासनावशात् स्वप्न की तरह नाना विचित्र दृश्य पदार्थों के रूप में प्रतीत होता है, वस्तुतः वे पदार्थ विज्ञान से भिन्न हैं नहीं, अतः विज्ञान ही सर्व पदार्थों का मूलकारण है। यह सिद्धान्त भी ठीक नहीं, क्योंकि स्थिरता, जड़ता, अनात्मता और बाह्यता की प्रतीति को भी यदि विज्ञान से अभिन्न मानोगे तो विज्ञान को भी स्थिर, जड़, बाह्य और अनात्मरूप अवश्य मानना होगा, जो कि आपको मान्य है नहीं। क्षणिक, चेतन. आन्तर, विज्ञान को स्थिर, जड़, बाह्य, ज्ञेय मानने में अनुभव से भी विरोध होगा। इन दोषों से बचने के लिए यदि स्थिरता, जड़ता, बाह्यता, अनात्मता को विज्ञान से भिन्न मानोगे तो 'सर्व पदार्थों का मूलकारण विज्ञान है, अतः वे पदार्थ विज्ञान से अभिन्न हैं', आपके इस सिद्धान्त की हानि होगी। इन

सब दोषों से दुष्ट होने के कारण क्षणिक विज्ञान को जगत का मूल-कारण मानना भी ठीक नहीं।

शून्यवाद-खण्डन—शून्य तो अभावरूप होने के कारण भाव-रूप जगत का उपादानकारण किसी प्रकार भी नहीं हो सकता। यदि शून्य को भावरूप तथा चेतन माना जाय तो भी वह चेतन ब्रह्म की तरह जड़ जगत का उपादान नहीं हो सकता, क्योंकि जड़ जगत का उपादान जड़ तत्त्व ही हो सकता है, चेतन तत्त्व नहीं हो सकता। यदि शून्य को भावरूप जड़ तत्त्व माना जाय तो सांख्य की प्रकृति की तरह अनेकाकार विचित्र जगत का उपादानकारण नहीं हो सकता। इस प्रकार दोषयुक्त होने से शून्यवाद भी ठीक नहीं।

अनुमेयवाद-खण्डन—पाँच ज्ञान-इन्द्रियों से बाह्य पदार्थों का अतिस्पष्ट असन्दिग्ध अबाधित रूप में अनुभव होता है, इसमें पशुपाल तक को कोई सन्देह नहीं, फिर भी बाह्य पदार्थों को प्रत्यक्ष अनुभव-सिद्ध न मानकर अनुमान से सिद्ध मानना कहाँ की बुद्धिमत्ता है। अनुमानप्रमाण प्रत्यक्षप्रमाणमूलक होता है, अतः प्रत्यक्षप्रमाण का तिरस्कार करके अनुमानप्रमाण स्वात्मलाभ ही नहीं कर सकता, इत्यादि अनेक दोषयुक्त होने से अनुमेयवाद तो सर्वथा युक्तिहीन सिद्धान्त है।

उक्त रीति से विचार करने पर स्पष्ट हो जाता है कि अन्य सभी सिद्धान्त युक्तियुक्त नहीं, अतः परिशेष न्याय से भी यह सिद्ध हो जाता है कि परमाणुओं के संयोग से ही जगत की उत्पत्ति होती

है। इस प्रकार न्याय-वैशेषिक प्रत्यक्ष के आधार पर स्वपक्ष का स्थापन करके परपक्ष-खण्डन द्वारा परिशेष न्याय से भी उसकी पुष्टि करते हैं। आरम्भवाद का संक्षेप में यही सार है।

बाह्यार्थवादी बौद्ध, जैन तथा कुछ पूर्वमीमांसक भी परमाणुओं से ही जगत की उत्पत्ति मानते हैं। मीमांसकों में से कुछ लोग खण्ड-खण्ड जगत की ही क्रमशः उत्पत्ति-प्रलय मानते हैं, सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति-प्रलय एक साथ होती है ऐसा नहीं मानते। इन तीनों को ही ईश्वर मान्य नहीं, इस विषय पर 'ईश्वरवाद' प्रकरण में विचार करेंगे।

परमाणुओं को न्याय-वैशेषिक निरवयव स्पर्श, रूप, रस और गन्ध गुणों से युक्त मानते हैं। ये गुण वायु, तेज, जल, पृथ्वी के परमाणुओं में क्रमशः एक, दो, तीन, चार के क्रम से रहते हैं। बाह्यार्थवादी बौद्ध इन्हीं गुणों को स्पर्श, उष्ण, स्निग्ध, खर नाम से कहते हैं और षट् दिशाओं से षट् परमाणुओं के संयोग के लिए इन परमाणुओं को षट्कोणयुक्त मानते हैं, इतना ही न्यायसिद्धान्त से इनके परमाणुओं में अन्तर है। जैनी लोग परमाणुओं को पुद्गल नाम से कहते हैं, पुद्गल का अर्थ है पूरा होना और गल जाना। सावयव पदार्थ के विभाजन से पुद्गल उत्पन्न होते हैं और पुद्गल संयोग से सावयव पदार्थ बनने पर पुद्गलों की पुद्गलरूपता गल जाती है, यही पुद्गलों का पुद्गलत्व है। ये पुद्गल एक प्रकार के ही होते हैं, न्यूनाधिक गुणवाले नहीं होते। परमाणुओं के विषय में इन तीनों का यही अवान्तर मतभेद है।

परमाणुओं से भिन्न कार्य की उपलब्धि न होने के कारण बौद्धों ने कार्य का कारण से सर्वथा अभेद माना है। ज्ञान, क्रिया, आकार आदि पीछे कहे हेतुओं से न्याय-वैशेषिक ने सर्वथा भेद माना है। जैनों ने सर्वथा भेद भी नहीं माना और सर्वथा अभेद भी नहीं माना, किन्तु अनेकान्त को माना है। पूर्वमीमांसक भी जैनों की तरह ही मानते हैं केवल उसका नाम भेदाभेद रखते हैं। कार्य का कारण से सम्बन्ध बताने में यही तीनों का मतभेद है। इस प्रकार अवान्तर मतभेदों के होते हुए भी ये तीनों परमाणुओं से ही जगत की उत्पत्ति मानते हैं, इसलिए इन सभी को आरम्भवादी कहा जा सकता है। दोषरहित पांच ज्ञानेन्द्रियरूप चक्षु आदि प्रत्यक्ष प्रमाणों से बाह्य पदार्थ की उपलब्धि होने के कारण ये तीनों बाह्य पदार्थों की सत्ता को निर्विवाद रूप से स्वीकार करते हैं।

——

बौद्धों के मत

बाह्यार्थ-अनुमेयवाद

बाह्य अर्थ को अनुमानसिद्ध माननेवाले बौद्धों का कहना है कि परमाणुओं के अतीन्द्रिय होने के कारण परमाणुओं का प्रत्यक्ष इन्द्रियों से किसी प्रकार नहीं हो सकता। इसीलिए प्रत्यक्ष के अयोग्य परमाणुओं के समूह रूप पदार्थों का भी प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। अन्यथा नेत्र से प्रत्यक्ष न होने योग्य वायु-परमाणुओं के

समूहरूप वायु का भी नेत्र से प्रत्यक्ष होना चाहिए, परन्तु होता नहीं। इस अन्वय-व्यतिरेकरूप युक्ति से यह नियम निकलता है कि इन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष अयोग्य वस्तु का पृथक्-पृथक्रूप में या समूहरूप में भी इन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। इस नियम के अनुसार इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष के अयोग्य परमाणुओं के समूहरूप पदार्थों का प्रत्यक्ष मानना सर्वथा अयुक्त है।

यदि कहा जाय कि दूरस्थित केश नेत्रप्रत्यक्ष के अयोग्य होते हुए भी केशसमूहरूप शिखा (चोटी) का प्रत्यक्ष जैसे हो जाता है, वैसे ही इन्द्रियप्रत्यक्ष के अयोग्य परमाणुओं के समूहरूप पदार्थों का भी इन्द्रियों से प्रत्यक्ष हो सकता है, तो यह कथन भी सारहीन ही है, क्योंकि केश तो इन्द्रियप्रत्यक्ष के योग्य ही है, अन्यथा समीप से भी केश का प्रत्यक्ष न होता, किन्तु परमाणुओं का तो समीप से भी प्रत्यक्ष नहीं होता, इसलिए आपका दृष्टान्त ठीक नहीं। किसी प्रकार परमाणुओं को प्रत्यक्ष के योग्य मान लें, तो भी घटादि पदार्थों के बाह्यस्तर में स्थित नेत्र आदि इन्द्रियों के सम्मुखप्रदेशवर्ती परमाणुओं का ही प्रत्यक्ष हो सकता है। मध्य तथा आन्तरस्तर में स्थित और पृष्ठप्रदेशवर्ती परमाणुओं का प्रत्यक्ष न हो सकने के कारण परमाणुसमूहरूप घटादि पदार्थों का प्रत्यक्ष तो संभव ही नहीं।

यदि परमाणुसमूह से घटादि कार्यरूप अवयवी को सर्वथा पृथक् मानकर उक्त दोषों का परिहार किया जाय तो प्रत्यक्ष अनुभव से विरोध होगा, क्योंकि परमाणुओं को निकाल लेने पर पृथक्

कार्यरूप अवयवी की उपलब्धि नहीं होती। विचार के लिए मान लें, तो भी यह प्रश्न होता है कि कार्यरूप अवयवी अपने कारणरूप अवयवों में कृत्स्न (समस्त) रूप से रहता है ? या अकृत्स्न (असमस्त) रूप से रहता है ? प्रथम पक्ष ठीक नहीं, क्योंकि तब तो एक अवयव अंगुष्ठ के प्रत्यक्ष मात्र से अवयवी मनुष्य का प्रत्यक्ष हो जाना चाहिए। द्वितीय पक्ष भी विचार-सह नहीं, क्योंकि अवयवी यदि अपने अवयवों में अकृत्स्न (असमस्त) रूप से स्थित होगा तो सर्व अवयवों के प्रत्यक्ष हुए बिना अवयवी का प्रत्यक्ष न हो सकेगा। सर्व अवयवों का प्रत्यक्ष उक्त रीति से संभव न होने के कारण अवयवी का प्रत्यक्ष सुतरां असंभव हो जायगा।

यदि कहा जाय कि अवयवी स्वरूपतः एक ही है, इसलिए 'अवयवों में अवयवी की कृत्स्न (समस्त) रूप से स्थिति है ? या अकृत्स्न (असमस्त) रूप से स्थिति है ?' इस प्रकार का प्रश्न करना ही नहीं बनता। कारण कि जहाँ अनेक होते हैं वहीं यह प्रश्न करना बनता है कि कृत्स्न (समस्त) की स्थिति है या अकृत्स्न (असमस्त—एक) की स्थिति है। यह समाधान भी ठीक नहीं, कारण कि अवयवी के एक होने पर भी यह प्रश्न तो हो ही सकता है कि वह अवयवी अपने अवयवों में संख्या की तरह व्यासज्यवृत्ति से अर्थात् स्वाधाररूप सम्पूर्ण अवयवों में व्याप्त होकर रहता है ? अथवा संयोग की तरह अपने आधार में अव्यासज्यवृत्ति से अर्थात् अव्याप्त होकर एक देश में ही रहता है ?

प्रथम पक्ष ठीक नहीं, क्योंकि पूर्व उक्त रीति से पृष्ठवर्ती,

मध्यवर्ती तथा अन्तर्देशवर्ती अवयवों का प्रत्यक्ष न होने के कारण अवयवी का प्रत्यक्ष नहीं हो सकेगा। द्वितीय पक्ष में अंगुष्ठ आदि एक अवयव के प्रत्यक्ष मात्र से मनुष्य आदि अवयवी के प्रत्यक्ष होने का पूर्वोक्त दोष होगा। स्वरूपसम्बन्ध का निरूपण न हो सकने के कारण 'स्वरूपसम्बन्ध से अवयवी अवयवों में रहता है' यह भी नहीं कहा जा सकता। अवयवों से अवयवी का भेदाभेद है, और वह भेदाभेद तादात्म्य (भेदाभेद) सम्बन्ध से रहता है इत्यादि कथन भी बाल-उन्मत्त के कथनों की भाँति परस्पर विरुद्ध होने से विद्वानों के लिए उपेक्षणीय ही हैं।

उक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि परमाणुओं से भिन्न या अभिन्न अथवा भिन्नाभिन्न किसी रूप में भी घटादि पदार्थों का प्रत्यक्ष हो ही नहीं सकता, तो भी ज्ञानों में जो घटाकारता, पटाकारता रूप विचित्रता अनुभव में आती है वह विचित्रता निर्हेतुक नहीं हो सकती। अतः ज्ञानवैचित्र्यरूप कार्य से उसके कारणरूप में बाह्य पदार्थों का होना अनुमान द्वारा ही सिद्ध होता है। इस प्रकार अतिप्रबल अनेक युक्तियों द्वारा सिद्ध अनुमेयवाद को सर्वथा युक्तिहीन कहनेवाले सिद्धान्त ही वस्तुतः युक्तिहीन हैं। इन अनुमित पदार्थों का भी कारण परमाणु ही हैं, प्रकृति आदि नहीं। संक्षेप में यही बाह्य-अर्थ-अनुमेयवादी बौद्धों का सिद्धान्त है।

सापेक्षवाद

सापेक्षवादियों का कहना है कि बाह्य पदार्थ चाहे प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध हों अथवा अनुमान प्रमाण से सिद्ध हों। विचारणीय

तो यह है कि हमें ज्ञान द्वारा पदार्थ जिन गुणों, आकारों, धर्मों तथा विशेषणों से युक्त जैसा प्रतीत होता है, क्या वे गुण-धर्मादि उसी रूप में पदार्थ में विद्यमान हैं ? अथवा वे गुण-धर्मादि पदार्थ में विद्यमान तो अन्य रूप में हैं, किन्तु इन्द्रिय आदि ज्ञान-साधनों की विचित्रता के कारण हमें अन्य रूप में उपलब्ध होते हैं ? अथवा वे गुणादि, पदार्थ में किसी भी रूप में विद्यमान हो नहीं, केवल इन्द्रिय, प्रकाश, दूरता, समीपता आदि ज्ञानसाधनों की विचित्रता के कारण ही हमें वैसी प्रतीति मात्र होती है ?

इस पर कुछ विद्वानों का कहना है कि ह्रस्वत्व, दीर्घत्व, स्थूलत्व और कृशत्व आदि तो सर्वथा सापेक्ष ही हैं, क्योंकि वही एक वस्तु किसीकी अपेक्षा ह्रस्व या कृश होती है तो किसीको अपेक्षा दीर्घ या स्थूल होती है, किन्तु उष्णत्व, शीतत्व आदि तो अग्नि, जल आदि पदार्थों के स्वाभाविक गुण हैं।

अन्य विद्वानों का कहना है कि स्थूलत्व, कृशत्व आदि की तरह उष्णत्व, शीतत्व आदि भी सापेक्ष ही हैं। कारण कि एक हाथ को अग्नि से सन्तप्त करके और दूसरे हाथ को बर्फ से अतिशीतल करके जब एक साथ दोनों हाथों को कूपजल में डालते हैं, तब सन्तप्त हाथ को वह जल शीतल प्रतीत होता है और अतिशीतल हाथ को वही जल उष्ण प्रतीत होता है। एवं सूर्य, दीप तथा चन्द्रमा के प्रकाश में एक ही वर्ण (रङ्ग) भिन्न-भिन्न वर्णों के रूप में प्रतीत होता है। आँखों की जन्मजात विचित्रता के कारण भी किसीको अतिरक्तवर्ण भी न्यूनरक्त रूप में प्रतीत होता है, एवं

न्यून नीलवर्ण अतिनील रूप में प्रतीत होता है, आगन्तुक नेत्र-दोषों के कारण भी वर्ण-प्रतीति में भेद हो जाता है। एवं बाल्यावस्था में जिन गृह आदि पदार्थों के आकार महान् विशाल प्रतीत होते हैं और जो स्थान अतिदूर प्रतीत होता है, युवावस्था में वहाँ वैसी विशालता तथा दूरी प्रतीत नहीं होती।

इस प्रकार सहायक सामग्री, अवस्थाभेद, इन्द्रियों की स्वाभाविक तथा आगन्तुक विचित्रता आदि कारणों से जब एक मनुष्य के ज्ञानों में इतना वैचित्र्य हो जाता है, तब अन्य जातिवाले लघु-विशाल शरीर-इन्द्रियवाले नक्तचर, दिवसचर, जलचर, नभचर, और थलचर अनेकानेक प्राणियों के स्वाभाविक आगन्तुक इन्द्रिय आदि वैचित्र्य के कारण गुणों के ज्ञानों में कितना अधिक अन्तर होगा, इसकी कल्पना सहज में ही की जा सकती है। वे सभी परस्पर विरुद्ध गुण, पदार्थ में विद्यमान हों यह संभव नहीं, तो भी वे गुण किसी रूप में अवश्य ही पदार्थ में विद्यमान हैं, ऐसा अवश्य स्वीकार करना पड़ता है। अन्यथा रूपरहित वायु में रूप की तथा शीतगुणरहित अग्नि में शीतलता की भी उपलब्धि होनी चाहिए।

उक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि चाहे ह्रस्वत्व-दीर्घत्व हों, चाहे उष्णत्व-शीतत्व हों उनका ज्ञान जिस रूप में हमें होता है, उसी रूप में उनकी विद्यमानता न होने पर भी वे किसी रूप में अवश्य विद्यमान हैं। अन्यथा सभी को सभी पदार्थों में सभी गुणों का ज्ञान होना चाहिए, अथवा किसी भी गुण का कहीं भी अनुभव न होना चाहिए। बाह्य पदार्थों की और उनमें

गुणों को सर्वथा न मानने पर ज्ञानों की विचित्रता को निर्हेतुक मानना होगा, ये सब बातें युक्तिविरुद्ध तथा अनुभवविरुद्ध होने के कारण मानी नहीं जा सकतीं। उन पदार्थों का उपादान तो प्रत्यक्ष-अनुभव का अनुसरण करनेवाली विभाजनप्रक्रिया से सिद्ध परमाणुओं को ही मानना ठीक है। संक्षेप में सापेक्षवाद का इतना ही सार है।

विज्ञानवाद

विज्ञानवादियों का हार्दिक अभिप्राय यह है कि पूर्व कथित अनुमेयवाद की युक्तियों से बाह्य पदार्थों की प्रत्यक्षता का खण्डन हो जाता है, तथा सापेक्षवाद की युक्तियों से बाह्य पदार्थों की यथा-ज्ञान-अनुसारिता भी समाप्त हो जाती है। यदि बाह्य पदार्थ माने बिना अन्य प्रकार से ज्ञानों में वैचित्र्य सिद्ध न होता हो, तो अवश्य ही बाह्य पदार्थ मानने चाहिए। हम स्वप्न में तथा मनोराज्य में बाह्य पदार्थों के बिना ही केवल संस्कार-वैचित्र्य से ही ज्ञानों के वैचित्र्य का प्रतिदिन अनुभव करते हैं, अतः ज्ञान-वैचित्र्य के लिए बाह्य पदार्थों का मानना अनिवार्य नहीं। यदि कहें कि पदार्थों का ज्ञान नष्ट होने पर ही संस्कारों का आधान होता है, बाह्य पदार्थ न मानने पर उनका ज्ञान, ज्ञानजन्य संस्कार, संस्कारजन्य ज्ञानों में वैचित्र्य यह सब कैसे सिद्ध होगा ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि पूर्व-पूर्व संस्कारों के वैचित्र्य से उत्तर-उत्तर ज्ञानों में वैचित्र्य उत्पन्न होता है, संस्कार-प्रवाह की

अनादिता स्वीकार होने के कारण प्रथम संस्कार कैसे उत्पन्न होगा ? यह प्रश्न भी नहीं उठाया जा सकता।

यदि स्वानुभूति के आधार पर विचार करें तो हमें अपने ज्ञानों में विचित्रता की ही अनुभूति होती है। इस विचित्रता का कारण बाह्य पदार्थ हैं या आन्तर संस्कार कारण हैं, इसकी कुछ भी अनुभूति नहीं होती। इसलिए इसका निर्णय युक्तियों से ही करना पड़ता है। पूर्व कथित अनुमेयवाद की युक्तियों से बाह्य पदार्थ की प्रत्यक्षता का खण्डन हो ही जाता है, तथा सापेक्षवाद की युक्तियों से बाह्य पदार्थों की यथा-ज्ञान-अनुसारिता भी समाप्त हो जाती है। स्वप्न तथा मनोराज्य में बाह्य पदार्थों के बिना भी ज्ञानों में संस्कार मात्र से वैचित्र्य का होना भी सर्व के अनुभव से सिद्ध है। इस अन्वयव्यतिरेकरूप युक्ति से ज्ञान-वैचित्र्य में बाह्य पदार्थों की कारणता का खण्डन हो जाने पर **परिशेषन्याय** से ज्ञानों की विचित्रता में संस्कारों को कारणता स्वतः सिद्ध हो जाती है। संस्कार को कारण मानने में लाघव भी है, अतः विज्ञानवाद ही युक्तियुक्त सिद्धान्त है।

विज्ञानवाद के प्रबल तर्कयुक्त दार्शनिक स्वरूप का विस्तृत ज्ञान प्राप्त करने के लिए तो उनके ग्रन्थों का ही गम्भीर अध्ययन करना चाहिए। संक्षेप में मुख्य-मुख्य कुछ तर्क यहाँ दिये जा रहे हैं।—

यदि बाह्य-अर्थवादी ज्ञान के वेद्य (विषय) रूप में बाह्य

पदार्थों को मानता है, तो उसे बताना चाहिए कि वेद्य का लक्षण क्या है ?

१. 'जिससे ज्ञान उत्पन्न हो वह वेद्य है।' यह लक्षण नेत्र आदि इन्द्रियों में अतिव्याप्ति दोष से दूषित है, क्योंकि इन्द्रियाँ भी ज्ञान की उत्पत्ति में हेतु होती ही हैं।

२. 'जो स्व-सदृश ज्ञान को उत्पन्न करे वह वेद्य है।' यह लक्षण भी पूर्व उत्पन्न नील-ज्ञान में अतिव्याप्त होने से दुष्ट है, क्योंकि पूर्व उत्पन्न नील-ज्ञान, उत्तर उत्पन्न नील-ज्ञान में हेतु होता ही है, तथा ज्ञानत्वरूप से दोनों ज्ञानों में सादृश्य भी है।

३. 'ज्ञान में जो नीलादि आकारविशेष को अर्पण करे वह वेद्य है।' यह लक्षण भी निर्दोष नहीं, क्योंकि कार्यभूत ज्ञानकाल में कारणभूत बाह्य पदार्थ क्षणिक होने से जब विद्यमान ही नहीं रह सकता, तब आकारविशेष का अर्पण करना तो सर्वथा असम्भव है। भूत-भविष्य-वस्तु विषयक ज्ञानों में तथा स्वप्न और भ्रमज्ञानों में विषय सर्वथा ही अविद्यमान होने के कारण यह लक्षण किस प्रकार घटित होगा ?

४. 'ज्ञान होने के बाद जिस पदार्थ का ग्रहण या त्याग किया जाये वह वेद्य है।' ऐसा लक्षण करने पर पुष्प-ज्ञान के विषय पुष्प में रहनेवाले रूप-रस परमाणु भी पुष्प-ज्ञान के विषय हो जायेंगे, क्योंकि पुष्प के ग्रहण या त्याग से पुष्प के रूप-रस आदि का भी ग्रहण या त्याग होता ही है। सुखज्ञान होने के बाद किसी भी

पदार्थ का त्याग या ग्रहण न होने के कारण सुख को वेद्य नहीं कहा जा सकेगा।

इस प्रकार वेद्य का निर्दोष लक्षण न हो सकने के कारण ज्ञान के वेद्य (विषय) रूप में प्रत्यक्ष बाह्य अर्थ की सिद्धि नहीं की जा सकती। बाह्य पदार्थ प्रत्यक्ष सिद्ध न होने पर उन्हें अनुमान द्वारा भी सिद्ध नहीं किया जा सकता, क्योंकि प्रत्यक्ष स्थलों में गृहीत व्याप्तियों के आधार पर ही अनुमान प्रमाण प्रवृत्त होता है। इन युक्तियों से बाह्य पदार्थ की प्रत्यक्षसिद्धता तथा अनुमान-सिद्धता का खण्डन हो जाने पर **परिशेषन्याय** से वेद्य पदार्थ आन्तर ज्ञानात्मक ही सिद्ध होता है। सह-उपलम्भ भी वेद्य पदार्थ की ज्ञानरूपता को सिद्ध करता है। यदि वेद्य पदार्थ ज्ञान से भिन्न होते तो गौ और अश्व की भाँति अवश्य ही पृथक्-पृथक् उपलब्ध होते, ज्ञान से पृथक् वेद्य पदार्थ उपलब्ध नहीं होते, अतः वेद्य पदार्थ ज्ञानात्मक (ज्ञानरूप) ही हैं। एतादृश अनेकों सूक्ष्म युक्तियों द्वारा बाह्य-अर्थ का खण्डन करके **परिशेषन्याय** से वेद्य अर्थ को ज्ञानरूप सिद्ध करते हैं। संक्षेप में यही विज्ञानवाद का सार है।

शून्यवाद

शून्यवादियों का कहना है कि 'प्रतीत होने पर भी बाह्य पदार्थों की परमार्थतः सत्ता है नहीं' विज्ञानवादी का यह सिद्धान्त उसके विज्ञान पर भी प्रयुक्त होने के कारण 'विज्ञान की भी पर-मार्थतः सत्ता है नहीं' ऐसा विज्ञानवादी को अवश्य स्वीकार करना

पड़ेगा, क्योंकि विज्ञान भी प्रतीत होता ही है। इसके लिए विज्ञान-वादी के प्रति अनुमान का प्रयोग इस प्रकार किया जा सकता है— 'विज्ञान, परमार्थतः है नहीं, प्रतीत होने के कारण, बाह्य पदार्थ की तरह' (विज्ञानं, परमार्थतः नास्ति, प्रतीतत्वात्, बाह्यपदार्थवत्)। अतः परिशेषन्याय से जगत के मूल में शून्य ही सिद्ध होता है। यह शून्य न सत् है, न असत् है, न सत् असत् उभयरूप है और न इसे अनुभय रूप ही कहा जा सकता है। यदि किसी प्रकार कहना ही हो तो 'शून्य तत्त्व उक्त चतुष्कोटियों से विनिर्मुक्त है' इस प्रकार निषेधात्मक शब्दों से ही कहना उचित होगा, वस्तुतः वह किसी शब्द का विषय नहीं।

ध्यान-आकर्षण

परमाणुवाद से लेकर शून्यवाद तक के सम्पूर्ण विवेचन का ध्यानपूर्वक अध्ययन, मनन और परिशीलन करने पर स्पष्ट विदित होगा कि सर्वसाधारण प्रत्यक्ष-अनुभूति-गम्य विभाजनप्रक्रिया द्वारा न्यायशास्त्र में किस प्रकार परमाणु को जगत का मूल कारण सिद्ध किया गया। इसके बाद परमाणुजन्य पदार्थ को परमाणु से भिन्न या अभिन्न अथवा भिन्नाभिन्न मानकर किसी प्रकार भी पदार्थ का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता, इस बात का प्रतिपादन करके अनुमेयवादी के द्वारा पदार्थ की प्रत्यक्षता को किस प्रकार अनुमेयता में परिणत कर दिया गया। तदनन्तर सापेक्षवाद द्वारा पदार्थ की यथा-ज्ञान-अनुसारिता को अनुभूतिपूर्वक समाप्त करके किस प्रकार पदार्थ को अतिसामान्य कोटि में स्थापित कर दिया

गया। तत्पश्चात् विज्ञानवाद ने अतिसूक्ष्म तर्कों द्वारा कैसे पदार्थ की सत्ता को समाप्त कर विज्ञान मात्र को ही अवशेष रखा। सबके अन्त में शून्यवाद ने विज्ञानवाद के तर्क का विज्ञानवाद के शिर पर ही प्रहार करके कैसे चतुष्कोटि-विनिर्मुक्त निर्विशेष शब्द-अगोचर शून्य तत्त्व की स्थापना की है।

यह शून्य तत्त्व अभावरूप नहीं किन्तु श्रीशङ्कराचार्यजी द्वारा प्रतिपादित ब्रह्मतत्त्व का ही नामान्तर मात्र है। इस विषय का सम्यक् ज्ञान प्राप्त करने के लिए डॉ० चन्द्रधर शर्मा द्वारा लिखित 'वेदान्त और बौद्ध दर्शन' नामक ग्रन्थ देखना चाहिए। आरम्भ-वाद से प्रारम्भ करके अनुभूति का विरोध न करते हुए सूक्ष्म-विचार द्वारा किस प्रकार निर्विशेष तत्त्व तक पहुँचा गया है, यह बात ध्यान में रख लेनी चाहिए। क्योंकि परिणामवाद द्वारा विचार आरम्भ करके भी सूक्ष्मविचार करते हुए किस प्रकार उसी निर्विशेष तत्त्व तक पहुँच जाते हैं यह आगे के प्रकरण में दिखाया जायगा।



परिणामवाद = सत्कार्यवाद

प्रकृति-परिणामवाद—सांख्य और योग का कहना है कि हिम (बर्फ), कुण्डल, दधि आदि कार्य क्रमशः जल, स्वर्ण, दूध आदि उपादानों के परिणाम (अवस्थाविशेष) ही हैं। जल आदि कारणों की हिम आदि कार्यों में अनुस्यूतता प्रत्यक्ष सिद्ध है तथा जल आदि कारणों को निकाल लेने पर कार्य की अतिरिक्त सत्ता उपलब्ध नहीं होती। तिल से ही तैल निकलता है बालुका से नहीं निकलता, दूध से ही घी निकलता है जल से नहीं निकलता, इन दृष्टान्तों पर विचार करने से ये नियम निकलते हैं।—

१—कारण की अवस्थाविशेष रूप परिणाम ही कार्य है।

२—कारण सदा ही अपने कार्य में अनुस्यूत रहता है।

३—कारण से अतिरिक्त कार्य की पृथक् सत्ता नहीं होती।

४—कारण में सूक्ष्मरूप से कार्य प्रथम से ही विद्यमान होता है।

इन नियमों के आधार पर जगत के मूलकारण का अनुसन्धान करते हुए प्रथम इस बात पर ध्यान देना होगा कि कौन तत्त्व ऐसा है जो जगत के सभी कार्यों में अनुस्यूत है। विचार करने पर मालूम होता है कि संसार के सभी पदार्थ सुख-दुःख-मोह से अनुस्यूत हैं। उदाहरण के लिए एक ही सुन्दर स्त्री अपने पति को सुख देती है और सपत्नी को दुःख देती है, 'मुझे यह सुन्दर स्त्री क्यों नहीं प्राप्त हुई' इस रूप में अन्य कामुक पुरुष को

मोह में डालती है। इस रीति से सुख, दुःख, मोह ये तीनों सभी पदार्थों में सदा अनुस्यूत रहते हैं, तो भी सभी को सदा सभी पदार्थों से एक साथ तीनों की अनुभूति नहीं होती। इसका कारण यह है कि सुख आदि की अनुभूति में प्राणियों के शुभाशुभ कर्म-रूप परिपक्व अदृष्ट की सहायता अपेक्षित होती है। उस सहायक का होना, न होना ही सुख आदि के अनुभव होने, न होने में कारण है।

ये सुख, दुःख, मोह ही सांख्यशास्त्र में क्रमशः सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण के नाम से कहे गये हैं। अतः निष्कर्ष यह निकला कि सम्पूर्ण कार्य जगत, सत्त्व-रज-तम से अनुस्यूत होने के कारण इन्हींका परिणाम है। इन तीनों गुणों की साम्यावस्था का नाम ही प्रकृति है, इसलिए प्रकृति को ही जगत का मूल उपा-दानकारण मानना चाहिए। जब तीनों गुण साम्यावस्था में होते हैं तब प्रलय हो जाता है, और जब तीनों गुण विषमअवस्था में होते हैं तब सृष्टि होती है। प्राणियों के शुभाशुभ कर्मरूप सूक्ष्म अदृष्ट का परिपाक तथा अपरिपाक ही क्रमशः गुणों की विषम-अवस्था तथा साम्य-अवस्था में हेतु होते हैं। यह सूक्ष्म अदृष्ट बीजरूप से प्रकृति में स्थित रहता है, अन्यथा किसी भी सिद्धान्त में विषम कार्यरूप जगत की उत्पत्ति की समुचित संगति नहीं बतायी जा सकेगी। पुरुष को भोग तथा मोक्ष प्रदान करने के लिए ही पुरुष की सन्निधि में प्रकृति जगत-कार्यरूप में परिणाम को प्राप्त होती है।

पूर्व कथित नियमानुसार ये निष्कर्ष निकलते हैं।

१. प्रकृतिरूप कारण का परिणाम ही जगतरूप कार्य है।

२. प्रकृतिरूप कारण सदा ही जगतरूप कार्य में अनुस्यूत रहता है।

३. प्रकृतिरूप कारण से जगतरूप कार्य की पृथक् सत्ता नहीं।

४. प्रकृतिरूप कारण में कार्यरूप जगत सूक्ष्मरूप से प्रथम ही विद्यमान रहता है।

सांख्य तथा योग स्वसिद्धान्त प्रकृति-परिणामवाद का उपर्युक्त युक्तियों से प्रतिपादन करते हैं और आरम्भवाद का खण्डन निम्नलिखित युक्तियों से करके **परिशेषन्याय** से भी स्वमत की पुष्टि करते हैं—

जैसे अश्व और महिष (भैंस) में सर्वथा भेद है, तो उनके गुरुत्व (वजन) और देश में भी भेद है तथा अश्व को छोड़कर महिष का स्वतन्त्र = पृथक् अस्तित्व ग्रहण होता है। वैसे ही यदि कारण और कार्य में सर्वथा भेद हो तो उन दोनों के गुरुत्व और देश में भी भेद होना ही चाहिए, तथा कारण को छोड़कर कार्य का स्वतन्त्र = पृथक् अस्तित्व ग्रहण भी होना ही चाहिए। सर्वथा पृथक् कार्य और कारण की अपृथक् प्रतीति की संगति नित्य समवाय सम्बन्ध से भी नहीं हो सकती, अन्यथा सर्वथा पृथक् अश्व और गज की भी समवाय सम्बन्ध से अपृथक् प्रतीति होनी चाहिए।

सम्बन्धियों के नित्य होने पर ही उनका सम्बन्ध नित्य हो सकता है। कार्यरूप एक सम्बन्धी को अनित्य मानकर भी समवाय सम्बन्ध को नित्य मानना सर्वथा उपहास के योग्य है। यदि समवाय को अनित्य कार्यरूप मानें तो उसको भी स्व-कारण के साथ सम्बन्धित करने के लिए अन्य समवाय मानने पर अनवस्था दोष होगा।

एक परमाणु द्वारा अथवा निरवयव परमाणुओं में संयोग संभव न होने के कारण अनेक परमाणुओं द्वारा भी कार्य की उत्पत्ति संभव नहीं। कारण से कार्य का सर्वथा भेद मानने पर यह शङ्का होती है कि जैसे तन्तुओं से पट का सर्वथा भेद है वैसे ही मृत्तिका से भी पट का सर्वथा भेद है, फिर क्या कारण है कि तन्तुओं से ही पट उत्पन्न होता है मृत्तिका से नहीं होता? इस शङ्का का यह उत्तर दिया जाता है कि तन्तुओं में ही पट का प्रागभाव रहता है मृत्तिका में नहीं रहता, इसलिए तन्तुओं से ही पट उत्पन्न होता है मृत्तिका से नहीं उत्पन्न होता। परन्तु यह उत्तर ठीक नहीं, क्योंकि पट के प्रागभाव का प्रतियोगी पट है, अतः जब तक पट की उत्पत्ति न हो जाय तब तक उत्पत्ति से पूर्व अविद्यमान पट के साथ प्रागभाव का सम्बन्ध निरूपित न हो सकने के कारण 'तन्तुओं में पट का प्रागभाव रहता है, घट का प्रागभाव नहीं रहता' इस प्रकार प्रागभाव को विशेषित नहीं किया जा सकता। विशेषणरहित प्रागभाव सर्वत्र होने के कारण सर्व से सर्व की उत्पत्ति की शङ्का दृढ़मूल हो जायगी। उत्पत्ति की भी उत्पत्ति

मानने पर अनवस्था दोष होगा और उत्पत्ति को नित्य मानने पर करण-व्यापार की व्यर्थता का दोष होगा।

कार्य और कारण के नाम, संस्थान, संख्या, क्रिया आदि के भेद की व्यवस्था तो केवल अवस्था भेद मानने से ही हो सकती है, उसके लिए कारण से कार्य का सर्वथा भेद मानने की आवश्यकता नहीं। अन्यथा ऊर्ध्वमुख घट, तिर्यक् (टेढ़ा) घट, अधोमुख घट इस प्रकार घट के नामों में तथा संस्थानों (आकारों) में भेद है और क्रमशः पूर्णजल-आनयन (लाना), अर्धजल-आनयन, तथा जल-आनयन-अभावरूप कार्यों में भी भेद होने से एक घट को भी भिन्न-भिन्न ही मानना होगा। इसे तो कार्य और कारण का सर्वथा भेद माननेवाले नैयायिक भी नहीं स्वीकार कर सकते। इतना ही नहीं किन्तु क्षण-क्षण में आकारों का सूक्ष्म भेद होता ही रहता है, उन्हें सर्वथा भिन्न मानने पर क्षणिक पदार्थवादी बौद्ध ही विजयी क्यों न होगा? इस प्रकार आरम्भवाद = असत्कार्यवाद का खण्डन हो जाने के कारण **परिशेषन्याय** से भी प्रकृति-परिणामवाद = सत्कार्यवाद की पुष्टि होती है। संक्षेप में यही सांख्य और योग का सार है।

माध्वमत

श्रीमध्वाचार्यजी का कहना है कि अनीश्वरवादी जैन, बाह्यार्थवादी बौद्ध तथा कुछ मीमांसकों ने परमाणुओं से जगत का आरम्भ माना है और अनीश्वरवादी सांख्य ने जगत को प्रकृति का

परिणाम माना है, इतना अन्तर होते हुए भी इन सभी लोगों ने विचित्र जगत की उत्पत्ति में ईश्वर-निरपेक्ष प्राणियों के परिपक्व अदृष्ट को ही निमित्त माना है। यहाँ विचारणीय यह है कि सर्वज्ञ सर्वसमर्थ नियामक ईश्वर के बिना जड़ कर्मों द्वारा नियत देश-काल में प्राणियों के उपभोग योग्य पदार्थों की उत्पत्ति, भोग-पर्यन्त स्थिति, जगत की यथावत् व्यवस्था, नियमन आदि कार्य कैसे संभव हो सकते हैं? इसलिए 'सर्वज्ञ सर्वसमर्थ नियामक ईश्वर स्व से नियमित प्रकृतिरूप उपादान से जगत की व्यवस्थित रचना करता है' ऐसा मानना चाहिए।

प्रकृति और ईश्वर इन दोनों में से ईश्वर केवल निमित्तकारण है, तथा प्रकृति जगत का परिणामी उपादानकारण है। शास्त्र में ईश्वर को कहीं अभिन्न-निमित्त-उपादानकारण कहा है, अथवा 'ईश्वर के अतिरिक्त कुछ भी नहीं' इस प्रकार अद्वितीयता का कथन किया है। इन सब कथनों का तात्पर्य प्रकृति की स्वतन्त्र सत्ता का निषेध करके प्रकृति को ईश्वर के अधीन बताने मात्र में है, प्रकृति की सत्ता का सर्वथा निषेध करने में नहीं। जैसे 'एक अद्वितीय राजा ने ही शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर ली' इस वाक्य का तात्पर्य सेना, शस्त्र, सहयोगी अन्य राजाओं के निषेध में नहीं, किन्तु सेना आदि सबको चक्रवर्ती राजा के अधीन बताने में ही है।

श्रुति में कथित ऊर्णनाभि (मकड़ी) के दृष्टान्त को अभिन्न-

निमित्त-उपादानकारणवादी स्वसिद्धान्त का समर्थक मानते हैं, परन्तु यह उनकी भ्रान्ति है, क्योंकि मकड़ी यदि जाले का उपादान-कारण भी होती तो मकड़ी के विनाश से जाले का विनाश अवश्य हो जाना चाहिए, किन्तु होता नहीं, इससे अतिस्पष्ट हो जाता है कि मकड़ी केवल निमित्तकारण ही है। मकड़ी के पेट में स्थित भक्षितकीटजन्य लाला (लार) ही जाले का उपादानकारण है। अभिन्न-निमित्त-उपादानकारण का संसार में कोई दृष्टान्त है ही नहीं, इसलिए चेतन ईश्वर को निमित्तकारण और जड़ परिणामी जगत का उपादानकारण उसके अनुरूप होने से जड़ परिणामी प्रकृति को ही मानना चाहिए। संक्षेप में यही श्रीमध्वाचार्यजी के सिद्धान्त का सार है।

संकल्प-शक्तिवाद

बाह्य उपादानकारण के बिना आन्तरिक संकल्प मात्र से योगियों द्वारा विविध वस्तुओं की उत्पत्ति कर देने का वर्णन शास्त्रों में पढ़ने को मिलता है, तथा संकल्पशक्ति के अतिह्रास-वाले इस कलियुग में भी संकल्प मात्र से विविध वस्तुओं को उत्पन्न करके दिखा देनेवाले योगियों का दर्शन कभी-कभी किसी-किसी सौभाग्यशाली पुरुष को हो जाता है। योगियों के ही नहीं, पशुपाल-जैसे साधारण भोगियों के भी संकल्प मात्र से हस्त-पाद

आदि अङ्गों का संकोचन-प्रसारण होने पर उनके आकारों का परिवर्तन तो हो ही जाता है। हर्ष, शोक, काम, क्रोध आदि जो मनरूप संकल्प के ही परिवर्तित रूप हैं, उन हर्ष आदि मानसिक हेतु मात्र से मुख के आकार और वर्ण (रङ्ग) का भी परिवर्तन हो जाता है। इतना ही नहीं किन्तु अतिचिन्ता तथा अतिप्रसन्नता-रूप मानसिक हेतु मात्र से बिना किसी बाह्यनिमित्त के क्रमशः रक्त का विनाश और रक्त की उत्पत्ति भी हो जाती है, यह सब तो सर्वसाधारण के अनुभव से सिद्ध ही है। इन सब पर विचार करने से विदित होता है कि संकल्प मात्र से वस्तुओं के आकार और वर्ण का परिवर्तन करना तथा स्वरूपतः पदार्थों की भी उत्पत्ति-नाश करना संभव है।

यदि योग-साधना द्वारा इस मानसिक संकल्पशक्ति को प्रबल कर लिया जाय तो स्वशरीर की भाँति परशरीरों में भी आकार, वर्ण का परिवर्तन संकल्प मात्र से कर सकते हैं, तथा अतिप्रबल मानसिक संकल्पशक्ति का सम्पादन करके तो जड़ पाषाण आदि पदार्थों के भी आकार, वर्ण आदि का परिवर्तन तथा स्वरूपतः उनका उत्पादन भी किया जा सकता है।

इस प्रक्रिया द्वारा जब जगत के उपादानकारण पर विचार किया जाता है तो पूर्वोक्त सांख्य तथा माध्व का प्रकृति-तत्त्व संकल्पशक्ति का रूप धारण कर लेता है। यह संकल्पशक्ति संकल्प-वान् चेतन ईश्वर के आश्रित रहती है। श्रीमध्वाचार्यजी कथित प्रकृति भी शक्तिमान् चेतन ईश्वर के आश्रित रहती है, इसलिए

इसमें तो उनको भी कोई आपत्ति नहीं। श्रीमध्वाचार्यजी का आग्रह तो केवल इतना ही है कि प्रकृतिरूप शक्ति को ईश्वर से पृथक् तत्त्व मानना चाहिए। शक्ति का शक्तिमान् से कैसा सम्बन्ध मानना चाहिए, इस बात को लेकर ही श्रीरामानुजाचार्यजी, श्रीवल्लभाचार्यजी आदि के सिद्धान्तों में मुख्यतः मतभेद हुआ है, उसे ही आगे दिखाया जाता है।

——

शक्तियुक्तब्रह्मपरिणामवाद

श्रीरामानुजाचार्यजी का कहना है कि प्रकृतिरूप शक्ति जड़ परिणामी स्वभाववाली है, और ईश्वर चेतन अपरिणामी स्वभाव-वाला है। इस प्रकार लक्षणतः तथा स्वरूपतः तो दोनों का परस्पर भेद ही है, तथापि प्रकृति का ईश्वर के साथ कभी न टूटनेवाला नित्य अपृथक्सिद्ध विशेषणरूप सम्बन्ध है। जैसे जड़-शरीर की प्रवृत्ति-निवृत्ति चेतन-जीव के अधीन है, वैसे ही जड़-प्रकृति की प्रवृत्ति-निवृत्ति भी चेतन-ईश्वर के अधीन होने के कारण उक्त सम्बन्ध को शरीर-शरीरीभाव सम्बन्ध भी कह सकते हैं।

श्रीनिम्बार्काचार्यजी का कहना है कि यद्यपि उक्त हेतु से प्रकृतिरूप शक्ति का और ईश्वर का स्वरूपतः तथा लक्षणतः भेद है, तथापि प्रकृतिरूप शक्ति में पृथक् प्रवृत्ति-स्थिति की योग्यता

न होने के कारण शक्तिमान् चेतन ईश्वर से प्रकृतिरूप शक्ति का अभेद भी है, इस प्रकार भेदाभेद सम्बन्ध है। श्रीभास्कराचार्य, शैवाचार्य आदि महानुभाव सिद्धान्त में कुछ अवान्तर भेद मानते हुए भी भेदाभेद सम्बन्ध ही मानते हैं। श्रीचैतन्यमहाप्रभु उसीको शब्दान्तर में अचिन्त्यभेदाभेद नाम से कहते हैं। श्रीवल्लभाचार्य-जी भी भेद-सहिष्णु अभेद सम्बन्ध ही मानते हैं।

उक्त सभी आचार्यों को जड़ परिणामी प्रकृतिरूप शक्ति का चेतन अपरिणामी शक्तिमान् ईश्वर से स्वरूपतः तथा लक्षणतः भेद मान्य है, तथा सदा अधीन रहने के कारण प्रकृति की स्वतन्त्र सत्ता न होने से अभेद भी मान्य है, स्व-स्व-सिद्धान्त की दृष्टि से उक्त भेदाभेद सम्बन्ध के नामों में ही अन्तर किया है। भेद भी मान्य होने के कारण प्रकृतिगत परिणामजन्य दोषों का ईश्वर में अभाव सिद्ध हो जाता है, तथा अभेद भी मान्य होने के कारण ईश्वर में जगत की अभिन्न-निमित्त-उपादानकारणता की सिद्धि भी हो जाती है। उक्त रीति से ब्रह्म में विकार न होने के कारण ही श्रीवल्लभाचार्यजी ने अपने सिद्धान्त का नाम अविकृत परिणामवाद रखा है।

'भेद और अभेद परस्पर विरुद्ध स्वभाववाले होने के कारण एक साथ नहीं रह सकते' इस शङ्का का समाधान उक्त सभी आचार्यों ने यही किया है कि शक्ति का शक्तिमान् के साथ सर्वत्र भेदाभेदरूप सम्बन्ध ही होता है, यह सभी के अनुभव से सिद्ध है। उदाहरण के लिए अग्नि की दाहिका शक्ति का अग्नि से सर्वथा भेद

नहीं, क्योंकि यदि दाहिका शक्ति का अग्नि से सर्वथा भेद होता तो अग्नि के न होने पर भी उसकी उपलब्धि होती। एवं सर्वथा अभेद भी नहीं, क्योंकि मणि-मन्त्र-औषधरूप प्रतिबन्धकों के होने पर अग्नि के विद्यमान होते हुए भी दाहिका शक्ति नहीं रहती। इस प्रकार शक्ति से शक्तिमान् का भेदाभेदरूप सम्बन्ध सभी के अनुभव से सिद्ध होने के कारण उक्त आशङ्का के लिए अवकाश ही नहीं।

उक्त सभी आचार्यों ने शक्तिरहित शुद्ध निर्गुण ब्रह्म-विवर्तवाद का अर्थात् माया (अविद्या) परिणामवाद का एक स्वर से खण्डन करके परिशेष न्याय से भी शक्तियुक्तब्रह्मपरिणामवाद की पुष्टि की है। मायापरिणामवाद के खण्डन की कुछ मुख्य-मुख्य युक्तियाँ ही यहाँ दी जायँगी। विस्तार से अध्ययन तो उनके ग्रन्थों में ही करना चाहिए।

——

मायावाद का खण्डन

१. 'घटः सन्' (घट है) 'पटः सन्' (पट है) इत्यादि अनुभवों से सर्वकार्यों में 'सन्' अनुस्यूत है, यह निर्विवाद सिद्ध है। कार्यों में उपादानकारण ही अनुस्यूत होता है, इसलिए 'सन्' ही जगतरूप कार्य का उपादानकारण है। यह 'सन्' ब्रह्मरूप ही है, क्योंकि ब्रह्म के अतिरिक्त सभी पदार्थ कार्य होने से असत् अर्थात् मिथ्या हैं। इस प्रकार मिथ्या जगत का सत्रूप ब्रह्म ही

माया द्वारा अधिष्ठानरूप विवर्ती-उपादानकारण है, यह सिद्ध होता है।

मायावादियों का यह सब कथन ठीक नहीं, क्योंकि 'ब्रह्म सत्' इस प्रकार ब्रह्म में भी 'सन्' अनुस्यूत होने के कारण ब्रह्म को भी सत् से भिन्न असत् = मिथ्या मानना पड़ेगा। यदि कहें कि 'राहोः शिरः' की तरह 'ब्रह्म सत्' में ब्रह्म और सन् का अभेद ही है भेद नहीं, तो यह कथन भी उचित नहीं, क्योंकि 'घटः सन्' और 'ब्रह्म सत्' इन दोनों अनुभवों में भेद न होने पर भी घट से सत् का भेद मानना और ब्रह्म से सत् का अभेद मानना युक्तिसंगत नहीं।

२. दूसरी बात यह है कि निर्गुण निर्विशेष निर्विकार कूटस्थ ब्रह्मतत्त्व जगत का उपादानकारण नहीं हो सकता, क्योंकि जो तत्त्व कार्य का आरम्भ न कर सके या कार्यरूप में परिणत न हो सके वह जगत का उपादानकारण कैसे हो सकता है? यदि कहें माया (अविद्या) द्वारा निर्विकार कूटस्थ ब्रह्म भी जगत का अधिष्ठानरूप विवर्ती-उपादानकारण हो सकता है, तो यह उत्तर भी ठीक नहीं, क्योंकि ज्ञानरूप ब्रह्म में अज्ञान या अविद्यारूप माया का होना प्रकाशरूप सूर्य में अन्धकार होने के सदृश किसी प्रकार सम्भव नहीं। इसी युक्ति या दृष्टान्त को देकर वाचस्पति मिश्र ने ब्रह्म को अज्ञान का आश्रय नहीं माना। **विद्या स्वभावे ब्रह्मणि तत् (अविद्या) अनुपपत्तेः** (भामती, १।४।३)।

३. अज्ञानविशिष्ट जीव को अज्ञान का आश्रय मानने पर

अज्ञान का भी आश्रयकोटि में प्रवेश हो जाने के कारण आत्माश्रय दोष होगा। यदि कहें, अज्ञान-उपहित ब्रह्म को अज्ञान का आश्रय मानने पर आत्माश्रय दोष न होगा, क्योंकि उपाधि विशेषण की भाँति विशेष्य से मिलकर व्यावर्तक नहीं होती, किन्तु स्व-सन्निधि मात्र से व्यावर्तक होती है, तो यह कथन भी ठीक नहीं, क्योंकि ब्रह्म एक ही है अनेक नहीं, ऐसी दशा में उपाधि हो या विशेषण, किसका व्यावर्तन करेंगे। ब्रह्म निरंश निष्प्रदेश मान्य होने के कारण, अपने ही किसी अंश या प्रदेश का व्यावर्तन करना भी उपाधि या विशेषण द्वारा सम्भव नहीं।

ब्रह्म से अतिरिक्त सभी पदार्थ अज्ञान के कार्य होने के कारण, उन पदार्थों के या उन पदार्थों से विशिष्ट अथवा उपहित ब्रह्म के आश्रित भी अज्ञान नहीं रह सकता। यही कारण है कि आप मायावादियों के आचार्य संक्षेपशारीरककार ने केवल ब्रह्मरूप चिति को ही अविद्या का आश्रय स्वीकार किया है।

आश्रयत्व-विषयत्व-भागिनी निर्विभागचितिरेव केवला।
पूर्वसिद्ध-तमसो हि पश्चिमो नाश्रयो भवति नापि गोचरः॥

(१।३१९)

किन्तु प्रकाशरूप सूर्य में अन्धकार की तरह ज्ञानरूप केवल ब्रह्म में अज्ञान का रहना किसी प्रकार संभव नहीं, यह कहा ही जा चुका है।

४. केवल ब्रह्म को अज्ञान का आश्रय तथा विषय मानने पर ब्रह्म को ही ब्रह्मविषयक ज्ञान होने पर अज्ञान की निवृत्ति हो

सकेगी अन्यथा नहीं, क्योंकि समान आश्रय में रहनेवाले समान विषयक अज्ञान तथा ज्ञान में निवर्त्य-निवर्तक भाव होता है। इसे स्वीकार करने पर दो दोष होंगे, एक तो अज्ञाननिवर्तक आगन्तुक ज्ञानरूप विकार का उदय ब्रह्म में होने से ब्रह्म को विकारी मानना होगा। दूसरा दोष यह होगा कि प्रमाणजन्य प्रमाज्ञान का प्रमेय (विषय) ब्रह्म को अवश्य मानना होगा। ये दोनों बातें आपके सिद्धान्त की घातक होने से आप मान नहीं सकते।

'ब्रह्म का ज्ञान लक्षणावृत्ति से होता है अभिधावृत्ति से नहीं होता, इसलिए ब्रह्म प्रमेय नहीं होगा।' यह कथन भी ठीक नहीं, क्योंकि जो किसी भी शब्द का वाच्यार्थ नहीं होता वह लक्ष्यार्थ भी नहीं होता, तथा वाच्यार्थ सम्बन्धवाले में ही लक्षणा हो सकने के कारण सर्वथा असंग ब्रह्म में लक्षणा का होना किसी प्रकार भी संभव नहीं।

यदि कहें कि अज्ञान नाश के लिए केवल वृत्तिव्याप्ति ही ब्रह्म में होती है, फलव्याप्ति नहीं होती, अतः घट की तरह ब्रह्म दृश्य (प्रमेय) नहीं होता, तो यह कथन भी ठीक नहीं, क्योंकि केवल वृत्ति को जड़ होने के कारण ज्ञान नहीं माना जा सकता, अतः उससे अज्ञान का नाश भी नहीं हो सकता, क्योंकि ज्ञान से ही अज्ञान का नाश होता है। अतः प्रमाणजन्य ज्ञान का विषय होने पर ब्रह्म प्रमेय (दृश्य) अवश्य हो जायगा। यदि प्रमाण-

जन्य ज्ञान का प्रमेय ब्रह्म न होगा तो ब्रह्मविषयक अज्ञान भी नष्ट न होगा।

९. मायावादियों की यह माया और अज्ञान अभिन्न हैं या भिन्न हैं? इन्हें अभिन्न मानने पर 'अज्ञान उपाधिवाला अल्पज्ञ जीव होता है और माया उपाधिवाला सर्वज्ञ ईश्वर होता है' इस प्रकार जीव-ईश्वर का भेद प्रतिपादन करना संभव न होगा। यदि कहें कि जैसे अल्पस्वच्छ काँच और अतिस्वच्छ स्फटिक ये दोनों पृथ्वीतत्त्वरूप होने से एक ही हैं, केवल अल्पस्वच्छता अतिस्वच्छतारूप अवस्था का ही भेद है। वैसे ही माया और अविद्या एक मूलप्रकृतिरूप होने से एक ही हैं, माया में शुद्धसत्त्व-गुणता और अविद्या में मलिनसत्त्वगुणतारूप अवस्था का ही भेद है, इसलिए जीव-ईश्वर का भेद बन सकता है। यह कथन भी ठीक नहीं, क्योंकि अवस्था, परिणाम, कार्य ये सभी शब्द पर्याय-वाची होने से अविद्या और माया को मूलप्रकृति का कार्य (सादि) मानने पर सादि माया और सादि अविद्या उपाधिवाले, ईश्वर और जीव को भी सादि मानना होगा। पृथ्वी की अवस्थाविशेष काँच की निवृत्ति होने पर भी जैसे पृथ्वी की तथा स्फटिक की निवृत्ति नहीं होती, वैसे ही विद्या से मूलप्रकृति की अवस्थाविशेष अविद्या की निवृत्ति हो जाने पर भी माया की तथा मूलप्रकृति की निवृत्ति न होगी। ऐसी दशा में अद्वैत-सिद्धि कैसे कर सकोगे? माया और अविद्यारूप दोनों अवस्थाओं को भी मूलप्रकृति की तरह अनादि मानकर भी उक्त दोषों का परिहार नहीं किया जा

सकता, क्योंकि अवस्था, परिणाम शब्द सादि कार्य के पर्यायवाची होने से उसे अनादि नहीं माना जा सकता। माया तथा अविद्या-रूप दोनों अवस्थाओं को भी अनादि मानने पर 'षड् अस्माक-मनादयः' आपका यह सिद्धान्त भी समाप्त हो जायगा।

यदि माया और अविद्या को भिन्न मानें तो भी विद्या से अविद्या का ही विरोध होने के कारण अविद्या की ही निवृत्ति हो सकती है, माया की निवृत्ति न हो सकने के कारण इस पक्ष में भी अद्वैत-सिद्धि न कर सकोगे। यहाँ यह भी विचारणीय है कि आप-के मत में एक ही चेतन तत्त्व मान्य है, वही इन दोनों माया और अविद्या का आश्रय है, ऐसी दशा में एक को ही अल्पज्ञता और सर्वज्ञता का युगपद् अनुभव होना चाहिए। चेतन तत्त्व देशरहित, अंशरहित होने के कारण, 'उसके एक देश में या एक अंश में अविद्या है और अन्य देश या अन्य अंश में माया है' इस प्रकार का समाधान देना भी सम्भव नहीं। यदि कहें कि विचार-असह माया से अंशरहित में भी अंश विभाग हो सकता है। ऐसा कहना तो विचार का द्वार बन्द करना है।

माया और अविद्या को भिन्न मान लेने पर 'मायां तु प्रकृतिं विद्यात्' इस श्रुति में कथित मायिक जगत को अविद्या का कार्य नहीं कह सकोगे, और न जगत का विद्या से बाध ही कर सकोगे, ऐसी दशा में अद्वैत-सिद्धि तो किसी प्रकार भी न कर सकोगे।

६. मायावादियों का अविद्या (माया) को जगत का परिणामी

उपादानकारण मानना भी ठीक नहीं, क्योंकि जिन पर शाङ्कर-भाष्य है उनमें से किसी भी श्रुति में विद्यानिवर्त्यं अविद्या को स्पष्ट असन्दिग्धरूप से जगत का उपादानकारण नहीं कहा। अविद्या को जगत का उपादानकारण मानना युक्तिविरुद्ध भी है, क्योंकि यदि अविद्या जगत का उपादानकारण होती तो विद्या से अविद्या की निवृत्ति हो जाने पर जगत की प्रतीति होनी किसी प्रकार भी सम्भव नहीं। कारणरूप सर्प की निवृत्ति होने पर भी कार्यरूप भय, कम्प आदि की प्रतीति के दृष्टान्त भी अज्ञजनवञ्चना मात्र के लिए ही हैं, क्योंकि भय, कम्प आदि कार्यों में सर्प निमित्त-कारण है, उपादानकारण नहीं। प्रतिबन्धक प्रारब्ध के बल से अविद्यालेश द्वारा भी जगतस्थिति का समर्थन नहीं किया जा सकता, क्योंकि प्रारब्ध का भी उपादानकारण अविद्या ही है, अतः अविद्या की निवृत्ति हो जाने पर प्रारब्ध की भी स्थिति रहना सम्भव नहीं।

उक्त दोषों के कारण ही वेदान्त के अनुयायी होकर भी वेदान्त-सिद्धान्त-मुक्तावलीकार ने बाधितानुवृत्ति के सभी दृष्टान्तों तथा युक्तियों का खण्डन करके जीवन्मुक्ति मानने से इन्कार कर दिया। उन्होंने ही नहीं किन्तु मायावादियों के आद्य आचार्य श्रीशङ्कराचार्य-जी ने भी कर्मनिवृत्ति के प्रसङ्ग में अतिस्पष्ट शब्दों में कहा है कि विद्या से अविद्या की निवृत्ति हो जाने पर अविद्या से अध्यारोपित पदार्थ किञ्चित् भी शेष नहीं रहता। तथाहि—

'विद्वान् तु पुनः विद्यया अविद्यायां निवृत्तायां शक्नोति एव

अशेषतः कर्म परित्यक्तुम्, अविद्याऽध्यारोपितस्य शेषानुपपत्तेः (गीता, १८ । ४८) ।

७. जगत को मिथ्या कहना श्रुतिसम्मत तो है ही नहीं, क्योंकि जिन उपनिषदों को परम प्रमाणं मानकर श्रीशङ्कराचार्यजी ने उस पर भाष्य लिखकर मायावाद की स्थापना की है, उन उपनिषदों में स्पष्ट शब्दों में जगत को मिथ्या कहीं भी नहीं कहा। इतना ही नहीं किन्तु मिथ्या, कल्पित, अध्यारोपित, विवर्त आदि शब्दों का तथा मायावादी के रज्जु-सर्प, मृगतृष्णा आदि दृष्टान्तों का भी उन उपनिषदों में मायावाद-अभिमत अर्थ में उल्लेख नहीं मिलता।

युक्तियों से भी जगत को मिथ्या नहीं सिद्ध किया जा सकता, क्योंकि अधिष्ठान के सामान्य अंश का ज्ञान, विशेष अंश का अज्ञान और अधिष्ठान से पृथक् ज्ञाता-चेतन आदि अध्यास की सामग्री होने पर ही अध्यास होता है। यह सब मायावादियों के यहाँ संभव नहीं, क्योंकि अधिष्ठानरूप चेतन को अंशरहित अद्वितीय माना है। अध्यस्त पदार्थ को ग्रहण करनेवाली इन्द्रिय से अधिष्ठान का ग्रहण होना भी अति आवश्यक होता है, जो कि जगत के अधिष्ठान ब्रह्म में आपको मान्य है नहीं। आकाश का इन्द्रिय-अग्राह्य होना सर्वमान्य न होने के कारण उसे दृष्टान्तरूप में उपस्थित नहीं किया जा सकता।

किसी अध्यारोपक के न होने के कारण भी जगत अध्यारोपित नहीं हो सकता, क्योंकि मायावादियों के मत में ब्रह्म तो सर्वथा

कूटस्थ निर्विकार होने के कारण अध्यारोपक नहीं हो सकता, तथा ब्रह्मभिन्न सभी अध्यारोपित जड़ मान्य होने के कारण वे भी अध्यारोपक नहीं हो सकते। अविद्या-विशिष्ट या अविद्या-उपहित ब्रह्म को भी अध्यारोपक नहीं कह सकते, कारण कि ऐसा मानने पर भी चेतन ब्रह्म को ही अध्यारोपक मानना होगा, अविद्या तो अध्यारोप में द्वार मात्र ही होगी, क्योंकि सर्वत्र अध्यारोप-स्थलों में चेतन देवदत्त आदि ही सर्प आदि के अध्यारोपक होते हैं, और अविद्या सर्प आदि के अध्यारोप में द्वार मात्र होती है ऐसा ही देखा जाता है। ब्रह्म एक तथा निरंश है, अतः अविद्यारूप विशेषण या उपाधि किसका व्यावर्तन करने के लिये दिये जा रहे हैं? यह प्रश्न पहले किया जा चुका है।

ब्रह्म (आत्मा) के अध्यारोपक न हो सकने के कारण ही, 'ब्रह्मरूप आत्मा अपनी ब्रह्मरूपता के अज्ञान से ही अपने में कर्तृत्व-भोक्तृत्व का अध्यारोप करके दुःखी हो रहा है, अतः अपनी ब्रह्मरूपता के ज्ञान से ही दुःख की निवृत्ति होगी, अन्य किसी साधन से न होगी' मायावादियों का यह कथन भी सारहीन हो जाता है। इतना ही नहीं, उक्त प्रकार से स्वसिद्धान्त की उद्घोषणा करके पुनः विकारी हो जाने के भय से आत्मा में अज्ञान, अध्यारोपकत्व, दुःख, इन सबका निवर्तक आगन्तुक ज्ञान का उदय न मानना तो स्पष्ट ही स्ववचनघातक होने के कारण उन्मत्त-प्रलाप को ही सिद्ध करता है।

यदि कहा जाय कि अविद्या, अविद्याजन्य कल्पना, सुख-दुःख

आदि कल्पित विकारों का अधिष्ठान मान्य होने के कारण आत्मा विकारी नहीं होता, क्योंकि कल्पित वस्तु से अधिष्ठान में विकार वैसे ही नहीं होता जैसे कल्पित सर्प से रज्जु में विकार नहीं होता। दृष्टान्त विषम होने से यह कथन भी ठीक नहीं, तात्पर्य यह है कि रज्जु अधिष्ठान से भिन्न देवदत्त सर्प का कल्पक होने से रज्जु अधिष्ठान में विकार नहीं होता। सिद्धान्त में आत्मा से भिन्न सबको कल्पित होने के कारण वे कल्पक नहीं हो सकते, इसलिए तथा बन्धमोक्ष का सामानाधिकरण्य करने के लिए भी आत्मा को ही कल्पक मानना होगा, ऐसी दशा में आत्मा विकारी अवश्य होगा।

स्वप्न के दृष्टान्त से भी जाग्रत्-अवस्थारूप जगत को मिथ्या सिद्ध नहीं किया जा सकता। कारण कि जब तक जाग्रत्-अवस्था से भिन्न किसी सत्य-अवस्था का और उस सत्य-अवस्था में होने-वाले सत्य-ज्ञान द्वारा जाग्रत-अवस्था का बाध होना सिद्ध न किया जा सके, तब तक जाग्रत्-अवस्था को मिथ्या नहीं कहा जा सकता, क्योंकि स्वप्न-अवस्था के बाध में उक्त नियम ही देखा जाता है। जाग्रत्-अवस्था से भिन्न किसी सत्य-अवस्था को और उस सत्य-अवस्था में होनेवाले सत्य-ज्ञान को मायावादी अपने सिद्धान्त में दिखा न सकने के कारण जाग्रत्-अवस्थारूप जगत को मिथ्या नहीं कह सकते, क्योंकि मायावादी के मतानुसार तो जाग्रत्-अवस्थारूप जगत का बाधक ब्रह्म-ज्ञान भी मिथ्या-जाग्रत्-अवस्था में होने के कारण मिथ्या ही होगा।

'प्रबल युक्तियों के बिना दृश्यत्व आदि कुछ समानताओं को लेकर जाग्रत-अवस्था को दृष्टान्त बनाकर स्वप्न-अवस्था को ही सत्य क्यों नहीं मान लेते ?' इस आक्षेप के समाधान में यदि यह कहा जाय कि बहुत मनुष्यों द्वारा स्वप्न के मिथ्यात्व का अनुभव ही स्वप्न-अवस्था की सत्यता का बाधक है, तो बहुत मनुष्यों द्वारा जाग्रत्-अवस्था के सत्यत्व का अनुभव जाग्रत्-अवस्था को मिथ्या कहनेवाले मायावादियों के सिद्धान्त का बाधक क्यों न होगा ?

८. मायावादियों ने जिस अज्ञान को जगत का उपादानकारण मानकर जगत को मिथ्या कहा है वह अज्ञान क्या है। लोक-व्यवहार में तो ज्ञान के अभाव को ही अज्ञान कहते हैं। यदि मायावादी भी ज्ञान के अभाव को ही अज्ञान कहें तो अभावरूप अज्ञान भावरूप जगत का उपादान कैसे होगा ? इस दोष से बचने के लिए यदि अज्ञान को भावरूप मानें तो वह भावरूप अज्ञान सर्वकार्य का कारण होने से कार्यरूप ब्रह्मज्ञान का भी कारण अवश्य होगा। ऐसी दशा में कार्यरूप ब्रह्मज्ञान, अपने उपादान-कारण अज्ञान का नाश किसी प्रकार भी नहीं कर सकेगा। यदि कहें कि जैसे काष्ठ-मन्थन से उत्पन्न अग्नि अपने उपादानकारण काष्ठ का नाशक होता है, वैसे ही ब्रह्मज्ञान अपने उपादानकारण अज्ञान का नाशक हो सकता है, तो यह दृष्टान्त भी ठीक नहीं, क्योंकि आपकी प्रक्रिया के अनुसार अग्नि ही तेजस्तत्त्वरूप होने के कारण जलपूर्वक पार्थिव काष्ठ का कारण है। 'अग्नि और पट

'प्रबल युक्तियों के बिना दृश्यत्व आदि कुछ समानताओं को लेकर जाग्रत-अवस्था को दृष्टान्त बनाकर स्वप्न-अवस्था को ही सत्य क्यों नहीं मान लेते ?' इस आक्षेप के समाधान में यदि यह कहा जाय कि बहुत मनुष्यों द्वारा स्वप्न के मिथ्यात्व का अनुभव ही स्वप्न-अवस्था की सत्यता का बाधक है, तो बहुत मनुष्यों द्वारा जाग्रत्-अवस्था के सत्यत्व का अनुभव जाग्रत्-अवस्था को मिथ्या कहनेवाले मायावादियों के सिद्धान्त का बाधक क्यों न होगा ?

८. मायावादियों ने जिस अज्ञान को जगत का उपादानकारण मानकर जगत को मिथ्या कहा है वह अज्ञान क्या है। लोक-व्यवहार में तो ज्ञान के अभाव को ही अज्ञान कहते हैं। यदि मायावादी भी ज्ञान के अभाव को ही अज्ञान कहें तो अभावरूप अज्ञान भावरूप जगत का उपादान कैसे होगा ? इस दोष से बचने के लिए यदि अज्ञान को भावरूप मानें तो वह भावरूप अज्ञान सर्वकार्य का कारण होने से कार्यरूप ब्रह्मज्ञान का भी कारण अवश्य होगा। ऐसी दशा में कार्यरूप ब्रह्मज्ञान, अपने उपादान-कारण अज्ञान का नाश किसी प्रकार भी नहीं कर सकेगा। यदि कहें कि जैसे काष्ठ-मन्थन से उत्पन्न अग्नि अपने उपादानकारण काष्ठ का नाशक होता है, वैसे ही ब्रह्मज्ञान अपने उपादानकारण अज्ञान का नाशक हो सकता है, तो यह दृष्टान्त भी ठीक नहीं, क्योंकि आपकी प्रक्रिया के अनुसार अग्नि ही तेजस्तत्त्वरूप होने के कारण जलपूर्वक पार्थिव काष्ठ का कारण है। 'अग्नि और पट

का संयोग स्वकारण पट का नाश करता है' यह दृष्टान्त भी ठीक नहीं, क्योंकि पट के नाश की हेतुता तो अग्नि में ही है, संयोग तो व्यापारमात्र है।

अज्ञान को भावरूप मानकर भी उसे अन्तःकरण की स्फुट या अस्फुट वृत्तिरूप अवश्य ही आपको मानना होगा, अन्यथा अन्तःकरण की वृत्तिरूप ज्ञान से उसका नाश न हो सकेगा, क्योंकि वृत्तिरूप ज्ञान से वृत्तिरूप अज्ञान का हीं नाश हो सकता है। अज्ञान को अन्तःकरण की वृत्तिरूप मान लेने पर अज्ञान का आश्रय भी अन्तःकरण ही मानना होगा, ऐसी दशा में अन्तःकरण अज्ञान का कारण ही सिद्ध होगा, कार्य नहीं सिद्ध होगा। इन दोषों से बचने के लिए यदि अज्ञान को अन्तःकरण की वृत्तिरूप नहीं मानकर अन्य किसी रूप में माना जायगा तो अन्तःकरण की वृत्तिरूप ज्ञान से उसका नाश नहीं हो सकेगा।

९. अज्ञान को चाहे भावरूप मानें या अभावरूप मानें, एक-आत्मवाद में बद्ध-मुक्त की व्यवस्था किसी प्रकार नहीं हो सकती। अज्ञान को एक मानने पर उस एक अज्ञान की स्थिति-पर्यन्त एक अद्वितीय आत्मा बद्ध बना रहेगा और उस एक अज्ञान के नाश होने पर वही एक अद्वितीय आत्मा मुक्त होगा। यही कारण है कि एकजीववादी वेदान्त-सिद्धान्त-मुक्तावलीकार ने वामदेव आदि के मुक्ति-प्रतिपादक शास्त्रवचनों को ऐतिहासिक सत्य न मानकर केवल अर्थवाद मात्र माना। अनेक अज्ञान मानने पर भी आत्मा को एक ही मानने के कारण 'वह आत्मा मुक्त हो गयी

यह आत्मा बद्ध है' ऐसा भेद-व्यवहार नहीं हो सकता। अनेक अज्ञान मानने पर एक नया दोष यह और होगा कि एक अज्ञान का नाश होने पर आत्मा को अपने में मुक्तता का अनुभव होगा तो अनेक अज्ञान अभी और विद्यमान होने के कारण बद्धता का भी अनुभव होगा। इस प्रकार एक साथ बद्धता और मुक्तता का अनुभव एक ही आत्मा को होना, परस्पर विरुद्ध होने के कारण माना नहीं जा सकता।

एक ही आत्मा मान्य होने के कारण, और सभी अज्ञान उसी एक आत्मा के आश्रित होने के कारण सभी अज्ञान उस एक आत्मा के अपने ही हैं। ऐसी दशा में "उस-उस आत्मा के अपने-अपने अज्ञान के नाश तथा अनाश से 'वह आत्मा मुक्त हो गयी, वह आत्मा बद्ध है' ऐसा भेद-व्यवहार हो जायगा" ऐसा भी नहीं कह सकते। आत्मा अंशरहित, प्रदेशरहित मान्य होने के कारण, 'एक आत्मा के जिस अंश या जिस प्रदेश का अज्ञान नष्ट हो जायगा वहाँ मुक्तता का व्यवहार होगा, और जिस अंश या प्रदेश का अज्ञान नष्ट नहीं होगा वहाँ बद्धता का व्यवहार होगा', ऐसा उत्तर भी नहीं दिया जा सकता। अनेक अज्ञान पक्ष में जो दोष दिये गये हैं, वे सभी दोष एक अज्ञान की अनेक शक्तियाँ माननेवाले पक्ष में भी होंगे।

उक्त प्रकार से अज्ञान, अज्ञान के आश्रय, अज्ञान के विषय, अज्ञान के निवर्तक, अध्यारोपक, अध्यारोप की सामग्री का प्रतिपादन न हो सकना तथा अज्ञान का जगत-उपादान होना,

उपादान अज्ञान की निवृत्ति होने पर उपादेय जगत की बाधितानुवृत्ति का होना सम्भव नहीं तथा माया और अविद्या का भिन्न या अभिन्न होना, उससे ईश्वर-जीव के भेद का प्रतिपादन करना सम्भव नहीं एवं एक अज्ञान या अनेक अज्ञान पक्ष में बद्ध-मुक्त की व्यवस्था का न हो सकना आदि अनेकों दोषों से दूषित होने के कारण मायावाद सचमुच ही मायावियों का मायाजाल ही है। इतना ही नहीं किन्तु इन मायावादियों ने अपनी ही परस्पर विरुद्ध अनेक प्रक्रियाओं से अपना ही खण्डन करके अपनी मायावादिता को स्पष्ट सिद्ध कर दिया है।

मायावाद में सबसे बड़ा दोष यह है कि आत्मा को निर्विकार, अद्वितीय, ब्रह्मरूप सिद्ध करने के लिए कर्तृत्व-भोक्तृत्व को, जगत को, वेद तथा ईश्वर तक को भी कल्पित माना। इन सबका कल्पक अगत्या आत्मा को ही मानना पड़ता है। जिससे आत्मा में निर्विकारता आदि तो सिद्ध ही नहीं हो पाती, इतना ही नहीं, किन्तु सर्वज्ञ ईश्वर तथा वेद को भी अज्ञ आत्मा (जीव) की कल्पनामात्र कहने का महापाप शिर पर चढ़ जाता है। वेदान्त श्रवण काल में ही जिसने ईश्वर को अपनी कल्पनामात्र मान लिया, वह ईश्वर-उपासना कैसे करेगा? इसलिए माया-अज्ञानरहित ज्ञानियों द्वारा मायावाद सर्वथा परित्याज्य है। आरम्भवाद का खण्डन प्रथम हो ही चुका है। अतः परिशेषन्याय से भी प्रकृतिरूप शक्तियुक्तब्रह्मपरिणामवाद मानना ही युक्त है।

मायापरिणामवाद

मायावाद का ही दूसरा नाम ब्रह्मविवर्तवाद है। इनका कहना है कि शक्तियुक्तब्रह्मपरिणामवादियों ने प्रकृतिरूप शक्ति का ब्रह्म के साथ अभेद भी माना है, ऐसी दशा में ब्रह्म को प्रकृति के परिणामादि विकारों से सुरक्षित नहीं रखा जा सकता। परिणाम का अर्थ है अवस्थान्तर या रूपान्तर को प्राप्त होना, किन्तु सर्वथा कूटस्थ एकरूप ब्रह्म में यह सब होना किसी प्रकार संभव नहीं। ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय तथा परस्पर अति विरुद्ध जड़, चेतन अनेक रूप में सर्वथा कूटस्थ एकरूप ब्रह्म परमार्थतः कैसे परिणत हो सकता है? 'अचिन्त्य शक्ति के प्रभाव से यह सब हो सकता है' ऐसा कहना तो विचार का द्वार बन्द करना तथा अन्धश्रद्धा करना कहा जायगा।

उक्त दोषों से बचने के लिए यदि प्रकृति को शक्तिरूप न मानकर गुणरूप माना जाय तो भी सुरक्षा होना संभव नहीं, क्योंकि दयालुता, भक्तवत्सलता आदि ब्रह्म के गुणों की तरह प्रकृतिरूप गुण भी ब्रह्म के स्वरूपगत हो जाने के कारण प्रकृतिगत परिणामादि विकार भी ब्रह्म के स्वरूपगत हो जायँगे। इन दोषों के कारण शक्तियुक्तब्रह्मपरिणामवाद भी आरम्भवाद की भाँति विद्वानों द्वारा सर्वथा परित्याज्य है, अतः परिशेष न्याय से मायापरिणामवाद ही ग्रहण करने योग्य है। मायावाद में माया

और माया का ब्रह्म से सम्बन्ध, ये दोनों मिथ्या मान्य होने के कारण माया के परिणामजन्य दोषों से ब्रह्म किञ्चित् भी दूषित नहीं होता।

मायावादियों का हार्दिक अभिप्राय

यद्यपि कार्य की तरफ से विचार प्रारम्भ करने पर तो मूल-कारण को आरम्भ की योग्यता से युक्त या परिणाम की योग्यता से युक्त ही मानना पड़ेगा, क्योंकि सर्वथा निर्गुण निष्क्रिय अपरि-णामी कूटस्थ तत्त्व किसी भी कार्य का कारण हो ही नहीं सकता। कार्य का अर्थ ही होता है कारण का अवस्थान्तर या रूपान्तर को प्राप्त होना, अथवा नूतन रूप में प्रारम्भ = उत्पन्न होना। यह सब निर्गुण निष्क्रिय सर्वथा अपरिणामी कूटस्थ तत्त्व को कारण मानने पर सम्भव नहीं। इसी दृष्टि से श्रुति ने कूटस्थ ब्रह्मतत्त्व को 'अपूर्वं = अकारणं, अनपरं = अकार्यं' कहा है। तथापि श्रुति ने ही ब्रह्म को मूलकारण तथा 'निर्गुणं निष्क्रियं शान्तं' आदि शब्दों द्वारा सर्वथा अपरिणामी कूटस्थ भी कहा है।

युक्ति से भी मूलकारण की तरफ से विचार किया जाय तो उसे अपरिणामी कूटस्थ मानना ही उचित प्रतीत होता है, क्योंकि जगत में जो-जो पदार्थ परिणामरूप विकार से युक्त देखने में आते हैं वे सब कार्य ही होते हैं, कारण नहीं। मूलकारण को भी परिणाम-रूप विकार से युक्त मानने पर उसे भी कार्यरूप ही मानना होगा, जिससे उसकी मूलकारणता ही समाप्त हो जायगी उसे भी कार्य-रूप मान लेने पर उसके भी कारण की खोज करनी पड़ेगी, इस

प्रकार आगे-आगे चलते जाने पर अनवस्था दोष होगा। इस अनवस्था दोष से बचने का एकमात्र यही उपाय है कि मूलकारण को सर्वथा अपरिणामी कूटस्थ माना जाय। ऐसे कूटस्थ तत्त्व से जगतरूप कार्य की उत्पत्ति का प्रतिपादन अविद्यारूप अनिर्वचनीय = मिथ्या माया द्वारा ही संभव है, अन्य प्रकार से संभव नहीं। इस प्रकार श्रुति तथा युक्ति द्वारा भी माया-परिणामवाद मानना ही युक्त है।

उक्त रीति से परपक्ष का खण्डन करके स्वपक्ष-मण्डन की आधारभूता श्रुति तथा युक्तियों का संक्षेप में दिग्दर्शन करा दिया गया। इसके बाद प्रबल युक्तियों द्वारा जगतरूप कार्य का मिथ्यात्व कैसे सिद्ध होता है, और उसके कारणरूप में मिथ्या माया को मानने के लिए कैसे बाध्य होना पड़ता है, तथा किस प्रकार अन्त में मायाविशिष्ट ब्रह्म को जगत का अभिन्न-निमित्त-उपादानकारण सिद्ध किया जाता है, इसके लिए मायावाद की मुख्य-मुख्य युक्तियों को कुछ विस्तार से दिखाया जाता है। मायावाद-प्रतिपादन की युक्तियां सूक्ष्म तथा अतिक्लिष्ट हैं, अतः पाठकों से प्रार्थना है कि पूर्ण मनोयोग से अध्ययन-मनन-परिशीलन करेंगे तभी युक्तियों का ग्रहण हो सकेगा, अन्यथा नहीं। अधिक विस्तार से मायावाद की युक्तियों का अध्ययन तो साधु शान्तिनाथ द्वारा लिखित 'मायावाद' नामक ग्रन्थ से तथा शङ्करसम्प्रदाय के 'अद्वैत-सिद्धि' आदि ग्रन्थों से करना चाहिए।

मायावाद-सिद्धि के पाँच प्रकार

(पहला प्रकार)

'एक सत् निर्विकार निर्गुण निष्क्रिय ब्रह्म में अनेक असत् सविकार सगुण सक्रिय कार्यरूप जगत की प्रतीति माया के बिना सम्भव नहीं।' इस संक्षिप्त सूत्ररूप वाक्य का भावार्थ यह है कि 'उपादेय कार्य में उपादानकारण की ही अनुगत प्रतीति होती है' इस सर्वमान्य नियम के अनुसार 'घटः सन्' 'पटः सन्' आदि प्रतीतियों के आधार पर यह सिद्ध होता है कि सर्वकार्य-पदार्थों में अनुगत 'सत्' ही जगतरूप कार्य का उपादानकारण है। यह 'सत्' निम्नलिखित युक्तियों से वस्तु का स्वरूप, विधि-प्रत्ययविषयत्वरूप धर्म, अस्तित्वरूप धर्म, सत्तारूप जाति तथा क्रियाकारित्वरूप सिद्ध न होने के कारण **परिशेषन्याय से** ब्रह्मरूप ही सिद्ध होता है। उक्त विशेषणों से युक्त ब्रह्म में उक्त विशेषणों से युक्त जगतरूप कार्य की प्रतीति माया के बिना सम्भव नहीं। ऐसी दशा में ब्रह्म में विवर्ती-उपादानरूप अधिष्ठानता तथा कार्य-रूप जगत में मिथ्यात्वरूप अध्यस्तता माननी ही पड़ेगी। इस भावार्थ का ही कुछ विस्तार से विवेचन आगे किया जाता है।—

'सत्' वस्तुओं का स्वरूप नहीं—'सत्' को वस्तुओं का स्वरूप मानने में निम्नलिखित दोष होंगे। 'सत्' सभी वस्तुओं का स्वरूप होने के कारण उन सभी वस्तुओं की एकता की आपत्ति होगी। 'घटः सन्' आदि वाक्यों में 'सत्' शब्द से तथा 'घट' शब्द

से भी वस्तु के स्वरूप का कथन होने पर पुनरुक्ति दोष होगा। 'घट' तथा 'सत्' इन दोनों शब्दों को वस्तु के स्वरूप का वाचक मानने पर इन दोनों में विशेषण-विशेष्यभाव की सार्वजनिक प्रतीति का बाध होगा। वस्तुओं के स्वरूप (आकार) भिन्न-भिन्न होने के कारण उनका अनुगत होना संभव नहीं, ऐसी दशा में अनुगत प्रतीति का कोई विषय न होने से उसका बाध होगा। किन्तु करण (इन्द्रिय) गत दोष या किसी बाधक ज्ञान के बिना उक्त विशेषण-विशेष्यभाव का तथा अनुगत प्रतीति का बाध मानना न्याय-युक्त न होगा।

'सत्' विधि-प्रत्ययविषयत्वरूप धर्म भी नहीं—'है' इस प्रकार के भावात्मक ज्ञान का विषय होना ही विधि-प्रत्यय का विषय होना कहलाता है। इसे ही 'सत्' मानने पर मिथ्या-रज्जु-सर्प में भी 'सर्प है' इस प्रकार भावात्मक ज्ञान की विषयतारूप विधि-प्रत्ययविषयत्व होने के कारण मिथ्या-रज्जु-सर्प को भी 'सत्' मानना होगा। तथा मिथ्या-रज्जु-सर्प के अभाव में भावात्मक ज्ञान की विषयता न होने के कारण उसे 'असत्' मानना होगा। ये दोनों बातें मानी नहीं जा सकतीं, क्योंकि मिथ्या-रज्जु-सर्प बाधित हो जाने के कारण 'असत्' ही माना जाता है, और मिथ्या-रज्जु-सर्प के अभाव का बाध न होने के कारण उसे 'सत्' ही माना जाता है।

'सत्' अस्तित्वरूप धर्म भी नहीं—'सत्' को अस्तित्वरूप धर्म मानने पर यह प्रश्न होता है कि यह अस्तित्वरूप धर्म पदार्थों में

संयोग सम्बन्ध से रहता है ? या समवाय सम्बन्ध से रहता है ? 'संयोग सम्बन्ध से रहता है' ऐसा मानने पर गुणरूप संयोग पदार्थ में संयोग सम्बन्ध से अन्य किसीके न रह सकने के कारण अस्तित्व-रूप धर्म भी नहीं रह सकेगा, ऐसी दशा में 'संयोग है' ऐसी प्रतीति न हो सकेगी। 'समवाय सम्बन्ध से रहता है' ऐसा मानने पर समवायरूप पदार्थ में समवाय सम्बन्ध से अन्य किसीके न रह सकने के कारण अस्तित्वरूप धर्म भी न रह सकेगा, ऐसी दशा में 'समवाय है' ऐसी प्रतीति न हो सकेगी।

घटादि सभी पदार्थों में अस्तित्वरूप धर्म को यदि वर्तमान-कालिक सम्बन्ध से रहनेवाला मानें तो 'घट आसीत्' 'घटो भविष्यति' 'संयोग आसीत्' 'संयोगो भविष्यति' इत्यादि रूपों में उनकी भूत-भविष्यत् काल में सिद्धि न हो सकेगी। यदि अस्तित्व-रूप धर्म का घटादि पदार्थों के साथ सार्वकालिक सम्बन्ध मानें तो यह भी ठीक न होगा, क्योंकि 'इदानीं घटोऽस्ति' (इस काल में घट है) 'तदानीं घटो भविष्यति' (उस काल में घट होगा) इत्यादि अनुभवों में एक-एक काल के सम्बन्ध की ही प्रतीति होती है, सार्वकालिक सम्बन्ध की नहीं और न संभव ही है। काल के साथ अन्य काल का सम्बन्ध न होने के कारण 'काल है' ऐसी प्रतीति न हो सकेगी।

'सत्' सत्ताजातिरूप भी नहीं—'सत्ता है' ऐसी प्रतीति के आधार पर सत्ता में भी सत्ता जाति माननी होगी। यदि सत्ता में वही सत्ता जातिरूप से रहे तो आत्माश्रय दोष होगा। यदि अन्य

सत्ता जातिरूप से रहती है ऐसा मानेंगे तो अन्योन्याश्रय, चक्रिका, अनवस्था दोष होंगे। 'अभाव है' ऐसी प्रतीति होने के कारण अभाव को भी सत् (भावरूप) मानने में व्याघात दोष होगी। 'घट है' 'रूप है' 'समवाय है' 'विशेष है', इन प्रतीतियों में भेद न होने पर भी घटादि द्रव्यों में सत्ता जाति का साक्षात् सम्बन्ध मानना और समवाय आदि में परम्परा से सम्बन्ध मानना उचित नहीं।

यदि उक्त प्रतीतियों के एकरूप होने पर भी सम्बन्धों की विलक्षणता वहाँ मानी जाय तो 'सन् सन्' प्रतीतियों के एकरूप होने पर भी उनके विषयों में भी विलक्षणता क्यों नहीं मानते? अनुगत प्रतीति होने पर भी यदि विषय की विलक्षणता मान लेते हो, तो अनेक में अनुगत एक-जाति-सिद्धि का आधार जो अनुगत प्रतीति को माना था, उसके समाप्त हो जाने के कारण सत्ता आदि जातियों की ही सिद्धि न कर सकोगे। यह भी प्रश्न उठता है कि सत्ता जाति सत्ताजातियुक्त पदार्थ में रहती है या सत्ताजाति-रहित पदार्थ में रहती है? प्रथम पक्ष में आत्माश्रय आदि दोष होंगे। द्वितीय पक्ष में व्याघात दोष होगा। अतीन्द्रिय परमाणु आदि पदार्थों में भी रहने के कारण सत्ता जाति को प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध मानना तो सर्वथा ही अयुक्त है।

'सत्' क्रियाकारित्वरूप भी नहीं—बौद्धों द्वारा किया गया 'क्रियाकारित्व ही सत् है' यह लक्षण भी ठीक नहीं, क्योंकि बौद्धों के मतानुसार ही निर्वाण के अव्यवहित-पूर्वक्षण में उत्पन्न ज्ञान

द्वारा उत्तरक्षण में कोई क्रिया न होने के कारण उसे 'असत्' कहना होगा। क्रियाकारित्व में अन्य क्रियाकारित्व मानने पर अनवस्था आदि दोष होंगे, न मानने पर क्रियाकारित्व को 'असत्' मानना होगा। ऐसी दशा में जो स्वयं 'असत्' है ऐसे क्रियाकारित्व के सम्बन्ध से दूसरों को सत् कैसे सिद्ध किया जा सकता है। मिथ्या (असत्) सर्पदंश में भी मरण-मूर्च्छा-भय-उत्पादकत्वरूप क्रिया-कारित्व होने से उसे भी 'सत्' मानना होगा।

'सत्' ब्रह्मरूप ही है—ऊपर कहे गये पक्षों से अतिरिक्त रूप में 'सत्' का विवेचन नहीं हो सकता, तथा उक्त युक्तियों से उक्त सभी पक्ष अयुक्त होने के कारण **परिशेषन्याय** से 'सत्' को ब्रह्म-रूप ही मानना युक्त है। सर्वकार्यंपदार्थों में अनुगत वही सत् (ब्रह्म) उनका उपादानकारण है। परिच्छिन्न वस्तु में ही आरम्भक उपादानकारणता होती है और सावयव विकारी-वस्तु में ही परिणामी उपादानकारणता होती है। परिच्छिन्न सावयव वस्तु विनाशी होती है, ब्रह्म सत्रूप अविनाशी होने के कारण परिच्छिन्न सावयव नहीं, इसीलिए ब्रह्म में आरम्भक या परिणामी उपादानकारणता भी नहीं हो सकती। **परिशेषन्याय** से विवर्ती-उपादानकारणता ही ब्रह्म में माननी पड़ेगी, जो कि माया के बिना संभव नहीं। अतः 'एक सत् निर्विकार निर्गुण निष्क्रिय ब्रह्मरूप अधिष्ठान में अनेक असत् सविकार सगुण सक्रिय जगतरूप कार्य की प्रतीति माया के बिना संभव नहीं' यह पहला सूत्र सिद्ध हो गया।

आरम्भक उपादानवाद में कार्य का कारण से सर्वथा भेद माना जाता है, और परिणामी उपादानवाद में कार्य का कारण से सर्वथा अभेद माना जाता है। इन दोनों मतों में कार्यकारणभाव का सम्यक् निर्वाह न हो सकने के कारण दोनों ही ठीक नहीं। कार्य का कारण से समसत्ताक भेद और अभेद दोनों मानना परस्पर विरुद्ध होने के कारण सर्वथा असंभव है, इन तीनों पक्षों का खण्डन आगे किया जायगा। इस रीति से भी आरम्भक या परिणामी उपादानता संभव न होने से **परिशेषन्याय से** विवर्ती-उपादानता ही माननी होगी, जो कि माया के बिना संभव नहीं। इस तरह मायावाद-सिद्धि के पहले प्रकार का विवेचन किया गया।

(दूसरा प्रकार)

'कारणरूप ब्रह्म के साथ कार्यरूप जगत का सम्बन्ध माया के बिना संभव नहीं।' इस सूत्ररूप वाक्य का भावार्थ यह है कि कारण के साथ कार्य का भेद या अभेद अथवा भेदाभेद सम्बन्ध निरूपित न हो सकने के कारण **परिशेषन्याय** से अनिर्वचनीय सम्बन्ध ही मानना पड़ेगा, जो कि माया के बिना संभव नहीं। इसी भावार्थ को कुछ और विस्तार से समझाने का प्रयास आगे किया जाता है।—

सर्वथा भेद युक्त नहीं—कारण से कार्य की पृथक् उपलब्धि, स्थिति, वजन, देश आदि सिद्ध न होने के कारण कार्य का कारण से सर्वथा भेद नहीं माना जा सकता। भेद सर्वत्र समान होने पर

भी सर्वपदार्थों की सर्व से उत्पत्ति क्यों नहीं होती ? इस आशङ्का का समाधान प्रागभाव द्वारा भी नहीं हो सकता, क्योंकि अविद्यमान घटादि प्रतियोगी के साथ प्रागभाव का सम्बन्ध निरूपित न किया जा सकने के कारण घटप्रागभाव की सिद्धि ही नहीं की जा सकती। नित्य या अनित्यरूप से समवाय सम्बन्ध का निरूपण न हो सकने के कारण समवाय सम्बन्ध द्वारा भी कारण से कार्य की अपृथक् (अभेद) प्रतीति का समर्थन नहीं किया जा सकता। इन युक्तियों को अतिस्पष्ट रूप में समझने के लिए 'प्रकृतिपरिणामवाद' शीर्षक देखिए।

सर्वथा अभेद युक्त नहीं—कारण से कार्य का सर्वथा अभेद हो तो 'यह कारण है और यह कार्य है' ऐसा भेद-व्यवहार ही नहीं हो सकेगा। तथा सर्वथा अभेद हो तो कार्य-नाश से कारण का भी नाश होना चाहिए अथवा कारण की नित्यता तथा विद्यमानता से कार्य की भी नित्यता तथा विद्यमानता होनी चाहिए। ऐसा मानने पर कार्य-उत्पादन के प्रयत्न की व्यर्थतारूप दोष की प्राप्ति होगी। सर्वथा अभेद मानने पर मृत्तिका से ही घट के नाम, रूप, क्रिया और ज्ञान आदि सम्पूर्ण व्यवहार सम्पन्न हो जाने चाहिए। सर्वथा अभेद हो तो कार्य से कारण का अनुमान नहीं हो सकता, तथा कार्य-उत्पादन के लिए कारण का ग्रहण न हो सकेगा। अभिव्यक्ति को भी सत् (प्रथम से विद्यमान) मानने पर प्रयत्न की व्यर्थता, असत् मानने पर सिद्धान्त की हानि होगी, तथा अभिव्यक्ति की भी अभिव्यक्ति मानने पर अनवस्था दोष होगा। इन

युक्तियों को अतिस्पष्ट समझने के लिए 'परमाणुवाद' शीर्षक देखिए।

भेदाभेद भी युक्त नहीं—समान सत्तावाले भेद और अभेद परस्पर विरुद्ध स्वभाववाले होने के कारण एक साथ एक स्थान पर नहीं रह सकते इसलिए कारण से कार्य का भेदाभेद मानना तो सर्वथा ही अयुक्त है।

इन तीन पक्षों के अतिरिक्त कोई अन्य पक्ष निरूपण नहीं किया जा सकता। उक्त तीनों पक्षों का खण्डन हो जाने के कारण परि-शेषन्याय से कारण के साथ कार्य का अनिर्वचनीय सम्बन्ध ही मानना होगा। भाव यह है कि लोकप्रसिद्ध कार्यकारणभाव का निर्वाह करने के लिए कारण से कार्य का वास्तविक अभेद और काल्पनिक (व्यावहारिक) भेद मानना चाहिए। समानसत्ताक भेद और अभेद को न मानने के कारण भेदाभेद पक्ष में कथित विरोध-रूप दोष भी नहीं प्राप्त होगा। विषमसत्तावाले इस सम्बन्ध को ही कल्पित-तादात्म्य-सम्बन्ध अथवा अनिर्वचनीय-सम्बन्ध कहते हैं। यह सम्बन्ध माया के बिना संभव नहीं। इस प्रकार 'कारण ब्रह्म के साथ कार्य जगत का सम्बन्ध माया के बिना संभव नहीं' इस दूसरे प्रकार का विवेचन किया गया।

(तीसरा प्रकार)

'अनिर्वचनीय कार्य के स्वरूप की सिद्धि अनिर्वचनीय माया के बिना संभव नहीं।' इस सूत्ररूप वाक्य का भावार्थ यह है कि

कार्य का स्वरूप भी सत्, या असत् अथवा सदसत् रूप से निरूपित न हो सकने के कारण परिशेषन्याय से अनिर्वचनीय ही मानना होगा। इस अनिर्वचनीय कार्य की उत्पत्ति तदनुरूप अनिर्वचनीय मायारूप कारण से ही संभव हो सकती है। इसी भावार्थ को कुछ विस्तार से समझाया जाता है।—

कार्य का स्वरूप 'असत्' नहीं—उत्पत्ति से पूर्व कार्य को असत् कहना और उत्पत्ति के बाद कार्य को सत् कहना युक्त नहीं, कारण कि सत् और असत् इन परस्पर विरोधी दो धर्मों का आश्रय एक पदार्थ नहीं हो सकता। यदि कहें कि उत्पत्ति से पूर्व असत् और उत्पत्ति के पश्चात् सत् इस प्रकार काल-भेद से परस्पर विरुद्ध धर्मों का आश्रय एक पदार्थ हो सकता है, तो यह कथन भी ठीक नहीं, कारण कि उत्पत्ति से पूर्व कार्यरूप धर्मी ही न होने से असत्रूप धर्म किसमें रहेगा। कार्य को सर्वथा असत् मानने पर शशशृङ्ग की भाँति कार्य की भी उत्पत्ति न हो सकेगी। यदि कहें कि 'शशशृङ्ग का प्रागभाव नहीं होता, घटादि कार्य का प्रागभाव होता है' यह दोनों में वैषम्य है तो यह कथन भी ठीक नहीं, कारण कि सर्वथा अविद्यमान = असत् घटादि कार्यरूप प्रतियोगी के साथ 'घट का प्रागभाव' इस प्रकार सम्बन्ध ही निरूपित न किया जा सकने के कारण घट के प्रागभाव की ही सिद्धि नहीं की जा सकती। सर्वथा असत् कार्य का सत् कारण के साथ 'आद्यक्षण सम्बन्ध' रूप उत्पत्ति का लक्षण भी संभव नहीं, क्योंकि सत् और असत् परस्पर विरोधी होने से इनका सम्बन्ध होना ही संभव नहीं। ('प्रकृतिपरि-

णामवाद' में कथित युक्तियों की आवृत्ति यहाँ भी कर लेनी चाहिए ।)

कार्य का स्वरूप 'सत्' भी नहीं—कार्य की उत्पत्ति और विनाश प्रत्यक्ष अनुभव से सिद्ध हैं, उनका अपलाप नहीं किया जा सकता, इसलिए कार्य को 'सत्' नहीं कहा जा सकता। यदि कार्य सत् होता तो कार्य की उत्पत्ति के लिए करणव्यापाररूप प्रयत्न करने की आवश्यकता ही न होती, तथा 'घट उत्पन्न हुआ' ऐसा शब्द-प्रयोग भी न हो सकता। कार्य के सत् होने पर भी उसकी अभि-व्यक्ति के लिए उक्त प्रयत्न तथा शब्दप्रयोग दोनों का होना संभव है। यह कथन भी उचित नहीं, क्योंकि सत्कार्यवाद में सभी को सत् मान्य होने के कारण अभिव्यक्ति को भी सत् (प्रथम से विद्यमान) ही मानना होगा, इसलिए अभिव्यक्ति के लिए भी प्रयत्न करना संभव नहीं। यदि अभिव्यक्ति को अनित्य = कार्यरूप माना जाय तो भी कार्य मात्र को सत् माननेवाले आपको फिर भी अभिव्यक्ति को सत् (नित्य) मानना होगा, ऐसी दशा में प्रयत्न करना किसी प्रकार भी संभव न होगा। यदि अभिव्यक्ति को असत् मानकर प्रयत्न की आवश्यकता का समर्थन किया जाय तो सत्कार्यवाद का त्याग होगा। अभिव्यक्ति की अभिव्यक्ति मानने पर अनवस्था दोष होगा। ('परमाणुवाद' में कथित युक्तियों की आवृत्ति यहाँ भी करें।)

कार्य का स्वरूप 'सदसत्' भी नहीं—पूर्वोक्त सत् और असत् दोनों पक्षों में दोषों की प्राप्ति होने के कारण तथा सत् और असत्

परस्पर विरुद्ध होने के कारण समसत्ताक सत् और असत् एक वस्तु के स्वरूप नहीं हो सकते।

ऊपर कथित तीन पक्षों से भिन्न रूप में कार्य का स्वरूप निरूपित नहीं किया जा सकता। उक्त युक्तियों से उन तीनों पक्षों का खण्डन हो जाने के कारण परिशेषन्याय से कार्य का स्वरूप अनिर्वचनीय ही मानना होगा। 'अनिर्वचनीय कार्य के स्वरूप की सिद्धि अनिर्वचनीय माया के बिना संभव नहीं।' इस तरह तीसरा प्रकार निरूपित हुआ।

(चौथा प्रकार)

'द्रष्टा और दृश्य का भेद तथा प्रकाश्य-प्रकाशकभाव माया के बिना संभव नहीं।' इस सूत्ररूप वाक्य का भावार्थ यह है कि ज्ञानरूप द्रष्टा स्वयंप्रकाश = स्वतःसिद्ध, एकरूप, अविनाशी है, और इस द्रष्टा से प्रकाशित होनेवाला दृश्य परप्रकाश = परतः-सिद्ध, नानारूप, विनाशी है। इस दृश्य की द्रष्टा से भिन्न, अभिन्न या भिन्नाभिन्न रूप में सिद्धि नहीं हो सकती, तथा ज्ञानरूप द्रष्टा के साथ दृश्य का संयोग या समवाय आदि सम्बन्धों द्वारा प्रकाश्य-प्रकाशकभाव भी सिद्ध नहीं किया जा सकता। अतः लोकसिद्ध द्रष्टा और दृश्य के भेद को तथा प्रकाश्य-प्रकाशकभाव को भी अनिर्वचनीय ही मानना होगा, जो कि माया के बिना अन्य प्रकार से संभव नहीं। इसी भावार्थ को कुछ विस्तार से समझाने का प्रयास किया जाता है।—

'द्रष्टारूप ज्ञान स्वयंप्रकाश = स्वतःसिद्ध, एकरूप, अविनाशी है' इस बात को दो प्रकार से सिद्ध किया जा सकता है। पहला प्रकार यह है कि—ज्ञान को परप्रकाश मानने पर पूर्वज्ञान को प्रकाशित करनेवाला उत्तरज्ञान, और इस उत्तरज्ञान को भी प्रकाशित करनेवाला तृतीयज्ञान मानना होगा। इसी प्रकार उत्तरोत्तर आगे जाने पर अनवस्था दोष होगा, तथा एक ही ज्ञान की धारा चलते रहने से व्यवहार का अभाव और सुषुप्ति का अभाव होगा। धारावाहिक ज्ञान-स्थल में स्मरण की संगति न हो सकेगी, क्योंकि धारावाहिक ज्ञानों के एक-एक ज्ञान को ग्रहण करने के लिए बीच-बीच में ग्राहक ज्ञान का उदय माना जाय तो धारा के स्वरूप की हानि होगी। बीच-बीच में ग्राहक ज्ञान का उदय अनुभव में न आने के कारण अनुभवहीनतारूप दोष भी होगा।

यदि उक्त दोषों से बचने के लिए ज्ञानधारा के अन्त में उत्पन्न होनेवाले ज्ञान से ज्ञानधारा के सभी ज्ञानों का प्रकाश माना जाय तो यह भी संभव नहीं। कारण कि प्रकाशक ज्ञान से अव्यवहित पूर्वज्ञान का प्रकाश भले ही संभव हो जाय, किन्तु व्यवहित विनष्ट ज्ञानों का प्रकाश होना तो किसी प्रकार भी संभव नहीं। ज्ञानों की धारा न मानकर पाँच मिनट तक एक ही ज्ञान स्थिर रहता है, ऐसा मानना भी युक्त न होगा, क्योंकि ज्ञान को परप्रकाश माननेवाले वादी के मत में ज्ञान को स्थिर रहनेवाला नहीं माना जाता। ज्ञान को परप्रकाश (दृश्य) मानने

पर उसे जड़ भी मानना होगा, ऐसी दशा में जड़ ज्ञान से जड़ जगत का प्रकाश न हो सकने के कारण जगदन्धता दोष की प्राप्ति होगी। अतः परिशेषन्याय से ज्ञान को स्वयंप्रकाश ही मानना चाहिए।

ज्ञान को स्वयंप्रकाश सिद्ध करने का दूसरा प्रकार यह है क—परप्रकाश अनित्य वृत्तिरूप ज्ञानों के क्रम, भेद,. परिवर्तन, उत्पत्ति तथा विनाश को प्रकाशित करने के लिए उससे विलक्षण स्वयंप्रकाश ज्ञान को अवश्य मानना चाहिए। इन दो प्रकारों से सिद्ध स्वयंप्रकाश = स्वतःसिद्ध ज्ञान के नाश का स्वतः ग्रहण नहीं हो सकता, क्योंकि नाशग्राहक ज्ञान यदि विद्यमान है तो ज्ञान का नाश ही कहाँ हुआ? यदि नाशग्राहक ज्ञान अविद्यमान है तो नाश का ग्रहण कौन करेगा? ज्ञान से भिन्न सभी जड़ होने से उनसे तो ज्ञान के नाश का ग्रहण हो ही नहीं सकता। इस प्रकार ज्ञान का नाश स्वतः या परतः गृहीत न होने के कारण ज्ञान अविनाशी है।

एवं ज्ञान में भेद का ग्रहण भी स्वतः या परत न हो सकने के कारण ज्ञान एकरूप = अद्वितीय है। तथाहि– ज्ञान में भेद का ग्रहण स्वतः मानने पर कर्तृकर्मरूप दोष होगा. ज्ञान से भिन्न सभी जड़ होने से परतः भी ज्ञान में भेद का ग्रहण नहीं हो सकता। यदि किसी अन्य ज्ञान से ज्ञान में भेद का ग्रहण माना जाय तो अन्योन्याश्रय दोष होगा, क्योंकि अन्य (भिन्न = भेद ज्ञान सिद्ध होने पर ज्ञानगत भेद की सिद्धि होगी, और ज्ञानगत

भेद की सिद्धि होने पर अन्य (भिन्न = भेद) ज्ञान की सिद्धि होगी। भेद के अनुयोगी-प्रतियोगीरूप ज्ञानों के ग्रहणपूर्वक ही भेद का ग्रहण होने के कारण गृहीत ज्ञानों में दृश्यता तथा जड़ता की प्राप्ति होगी। अनुयोगी तथा प्रतियोगीरूप ज्ञानों से भिन्न किसी अन्य तृतीय ज्ञान से उनका ग्रहण मानने पर अनवस्था दोष होगा।

द्रष्टा से दृश्य भिन्न नहीं—जड़ दृश्य पदार्थ की सिद्धि ज्ञानरूप द्रष्टा के अधीन है। इन दोनों द्रष्टा और दृश्य के भेद को ग्रहण करने के लिए अनुयोगी-प्रतियोगीरूप द्रष्टा और दृश्य का ग्रहण ग्रहीता द्वारा अवश्य होना चाहिए, परन्तु द्रष्टा किसीका दृश्य न हो सकने के कारण, तथा द्रष्टा का अन्य कोई द्रष्टा न होने के कारण भी द्रष्टा का ग्रहण हो ही नहीं सकता। अतः अनुयोगीरूप द्रष्टा के ग्रहण न हो सकने के कारण द्रष्टा से दृश्य का भेद भी ग्रहण नहीं हो सकता। यदि प्रथम द्रष्टा का ग्रहण करनेवाला अन्य कोई दूसरा द्रष्टा मान भी लिया जाय तो प्रथम द्रष्टा दृश्य हो जाने के कारण जड़ हो जायगा। दूसरे द्रष्टा से प्रथम द्रष्टा और दृश्य के भेद का ग्रहण मान लिया जाय तो भी भेद दृश्य होने के कारण उस भेद से भेदद्रष्टा का भेद किसके द्वारा ग्रहण होगा ? उसी भेदद्रष्टा के द्वारा स्वनिरूपित भेद का ग्रहण मानने पर कर्तृकर्मरूप दोष होगा, क्योंकि द्रष्टा स्व को ग्रहण किये बिना स्वनिरूपित भेद का ग्रहण कर ही नहीं सकता। यदि भेद का ग्रहण अन्य तीसरे द्रष्टा से माना जाय तो अनवस्था आदि दोष होंगे।

द्रष्टा से दृश्य अभिन्न भी नहीं—द्रष्टा ज्ञानरूप, स्वयंप्रकाश, अविनाशी है, और दृश्य जड़, परप्रकाश, विनाशी है। इस प्रकार द्रष्टा और दृश्य दोनों के स्वरूप परस्पर विरुद्ध होने के कारण इनका अभिन्न होना सम्भव ही नहीं। इन्हें अभिन्न मानने पर यदि केवल द्रष्टा शेष रहे तो कोई दृश्य न होने के कारण दृश्य की प्रतीति ही नहीं होनी चाहिए। यदि केवल दृश्य शेष रहे तो कोई द्रष्टा न होने के कारण जगदन्धता प्राप्त होगी। ये दोनों बातें अनुभव से विरुद्ध होने के कारण किसीको भी मान्य न होंगी। द्रष्टा और दृश्य दोनों किसी एक ज्ञान के विषय न होने के कारण 'शुक्लः पटः' की तरह विशेषण-विशेष्यभावपूर्वक होनेवाली समानाधिकरणतारूप एकता का होना भी सम्भव नहीं।

द्रष्टा से दृश्य भिन्नाभिन्न भी नहीं—भिन्नता और अभिन्नता परस्पर विरुद्ध होने के कारण इनका एक साथ होना सम्भव नहीं। द्रष्टा अंशरहित होने के कारण एक अंश में भिन्नता और अपर-अंश में अभिन्नता का होना भी सम्भव नहीं, अतः भिन्नाभिन्न पक्ष भी युक्त नहीं।

ऊपर कहे तीन पक्षों से अतिरिक्त किसी अन्य पक्ष का निरूपण करना सम्भव नहीं। उक्त तीनों पक्ष दोषयुक्त होने के कारण परिशेषन्याय से द्रष्टा से दृश्य का लोकप्रसिद्ध भेद भी अनिर्वचनीय ही है, जो कि माया के बिना सम्भव नहीं हो सकता।

एवं द्रष्टा से दृश्य का सम्बन्ध भी अनिर्वचनीय ही है, क्योंकि सावयव पदार्थों में ही संयोग सम्बन्ध होता है, द्रष्टा के साव-

यव न होने के कारण द्रष्टा के साथ दृश्य का संयोग सम्बन्ध नहीं हो सकता। द्रष्टा दृश्य का समवायि-कारण न होने से द्रष्टा के साथ दृश्य का समवाय सम्बन्ध भी नहीं हो सकता। द्रष्टा और दृश्य एक देश में स्थित न होने के कारण इनका दैशिक सम्बन्ध भी नहीं हो सकता। अतीत-अनागतकालीन दृश्यों के ज्ञान-स्थल में वर्तमानकालीन द्रष्टा के साथ अतीत-अनागतकालीन दृश्यों का एककालिक सम्बन्ध भी नहीं हो सकता। दृश्य में केवल प्रकाश्यभाव रहता है और द्रष्टा में केवल प्रकाशकभाव रहता है, इसलिए उभय में अनुगत प्रकाश्य-प्रकाशकभावरूप सम्बन्ध भी नहीं हो सकता, अतः **परिशेषन्याय** से सम्बन्ध भी अनिर्वचनीय ही सिद्ध होता है। इन अनिर्वचनीय भेद और अनिर्वचनीय सम्बन्ध की सिद्धि माया के बिना सम्भव नहीं। 'द्रष्टा और दृश्य का भेद तथा प्रकाश्य-प्रकाशकभाव माया के बिना संभव नहीं' इस तरह अतिमार्मिक चौथा प्रकार निरूपित हुआ।

(पांचवां प्रकार)

'सत् तथा चित् भिन्न नहीं किन्तु एकरूप ही हैं, इस सत्-चित्रूप अधिष्ठान में असत् (विनाशी) अचित् (जड़) नानारूप जगत की प्रतीति माया के बिना अन्य प्रकार से कदापि सम्भव नहीं।' इस सूत्ररूप वाक्य का भावार्थ यह है कि जो चित् नहीं होगा वह अचित् (जड़) होने के कारण असत् (विनाशी) अवश्य होगा। एवं जो सत् नहीं होगा वह असत् (विनाशी) होने के कारण अचित् (जड़) अवश्य होगा। इससे यह सिद्ध होता है कि

जो सत् होगा वही चित् होगा और जो चित् होगा वही सत् होगा। इस अभिन्न = एकरूप सत्-चित् अधिष्ठान में नानारूप असत्-अचित् जगत की प्रतीति माया के बिना सम्भव नहीं। इसी भावार्थ का विवेचन कुछ विस्तार से किया जाता है।—

सत्चित् अभिन्न ही हैं—चित् तत्त्व जड़ वस्तुओं का प्रकाशक होने पर भी चित् तत्त्व को जड़ वस्तुओं का स्वरूप नहीं कहा जा सकता। सर्ववस्तुओं का बाध होने पर भी चित् तत्त्व बाध के साक्षीरूप से तथा सर्व की अवधिरूप से शेष रहने के कारण वस्तुओं का धर्म भी नहीं कहा जा सकता। एवं सत् तत्त्व सर्व-वस्तुओं में नित्य अनुगत होने पर भी सत् तत्त्व को वस्तुओं का स्वरूप या धर्म नहीं सिद्ध किया जा सकता। इसका विवेचन माया-वाद के पहले प्रकार में किया जा चुका है। इस प्रकार चित् और सत् इन दोनों में वस्तुओं का स्वरूप या धर्म न होना रूप समानता होने के कारण चित् और सत् दोनों एक ही हैं।

'घटः सन्, पटः सन्' की भाँति 'घटः स्फुरति, पटः स्फुरति' की भी अनुगत प्रतीति होने के कारण भी सत् और चित् अभिन्न ही हैं। वस्तु का स्वरूप या धर्म ही ज्ञेय होता है, सत् तत्त्व वस्तुओं का स्वरूप या धर्म न होने के कारण ज्ञेय नहीं हो सकता, एवं चित् तत्त्व भी अन्य ज्ञाता न होने के कारण ज्ञेय नहीं हो सकता। इस प्रकार ज्ञेय न होना रूप समानता होने के कारण भी सत् और चित् अभिन्न ही हैं। इस अभिन्न = एकरूप सत्-चित्रूप अधिष्ठान में नानारूप असत्-अचित् जगत की प्रतीति माया के बिना सम्भव नहीं। इतना

ही नहीं किन्तु मायावाद को स्वीकार किये बिना श्रुति-प्रतिपाद्य केवलाद्वैत की सिद्धि अन्य प्रकार से सम्भव नहीं। इसीको संक्षेप में दिखाया जाता है।—

मायावाद के बिना केवलाद्वैत संभव नहीं

'ब्रह्म की तथा जगत को सत्ता एकरूप होने से केवल अद्वैत सिद्ध होगा' ऐसा कथन भी नहीं किया जा सकता, कारण कि ब्रह्म की सत्ता तो चित्‌रूप है, यदि वही चित्‌रूप सत्ता जड़ जगत में हो तो जड़त्व न रहने के कारण जगत का जगतपना (दृश्यत्व) ही समाप्त हो जायगा। 'तरंगरहित और तरंगसहित समुद्र की एकता की भाँति जो निर्गुण ब्रह्म है वही संसार है' इस प्रकार भी केवलाद्वैत सिद्ध नहीं किया जा सकता, क्योंकि समुद्र की तरह ब्रह्म सावयव तथा अवस्थान्तर में परिणामयोग्य न होने के कारण दृष्टान्त विषम है।

'अचिन्त्यशक्तियुक्त होने के कारण ब्रह्म ही जगत के रूप में परिणत होता है, इसलिए केवलाद्वैत की सिद्धि में कोई बाधा नहीं' यह कथन भी ठीक नहीं, क्योंकि समसत्ताक शक्ति का स्वरूप तथा उस शक्ति का ब्रह्म से भेद या अभेद या भेदाभेद निरूपित नहीं किया जा सकता। ब्रह्म के एकांश में जगतरूप परिणाम को मानने पर ब्रह्म में सांशतारूप सावयवता माननी होगी। सर्वांश में परिणाम मानने पर कार्यरूप जगत-काल में ब्रह्म का अभाव मानना होगा। इस तरह केवलाद्वैत की सिद्धि के अन्य प्रकार

अनेकों दोषों से दूषित होने के कारण उनके द्वारा केवलाद्वैत की सिद्धि नहीं हो सकती। अतः 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' इस श्रुति द्वारा प्रतिपाद्य केवलाद्वैत की सिद्धि के लिए भी मायावाद को स्वीकार करना परम आवश्यक है। इस तरह मायावाद का पाँचवाँ प्रकार भी निरूपित हुआ।

मायावाद के पाँचों प्रकारों में भेद

पहले प्रकार में ब्रह्म को जगत का विवर्ती-उपादान सिद्ध करने के लिए तथा दूसरे प्रकार में कारण के साथ कार्य का अनिर्वचनीय सम्बन्ध सिद्ध करने के लिए माया को स्वीकार करना परम आवश्यक बताया है। तीसरे प्रकार में कार्य के स्वरूप को भी अनिर्वचनीय सिद्ध करने के लिए तथा चौथे प्रकार में द्रष्टा-दृश्य के भेद को और प्रकाश्य-प्रकाशकभाव को अनिर्वचनीय सिद्ध करने के लिए माया को स्वीकार करना अति आवश्यक बताया है। पाँचवें प्रकार में एकरूप सत्-चित् अधिष्ठान में नानारूप असत्-अचित् जगत की प्रतीति के लिए तथा केवलाद्वैत की सिद्धि के लिए माया का स्वीकार करना परम आवश्यक बताया है। चौथे तथा पाँचवें प्रकार में यह भी भेद है कि चौथे में तो ज्ञानरूप द्रष्टा (चित् तत्त्व) की ओर से विचार किया गया है, और पाँचवें प्रकार में तो पहले प्रकार में सिद्ध किये हुए सत् तत्त्व की तथा चौथे प्रकार में सिद्ध किये हुए चित् तत्त्व की एकता का प्रतिपादन किया गया है। यही पाँचों प्रकारों में परस्पर भेद है।

मायावाद-सिद्धि का मूलाधार

जगतरूपी कार्य में सत् तथा चित् (स्फुरण) तत्त्व की अनुगति समान है। पाँचवें प्रकार में निरूपित रीति से सत् और चित् दोनों अभिन्न तत्त्व हैं, तथा सर्वत्र एकरस स्थित हैं। कार्यरूप जगत में नाम-रूप की समान अनुगति नहीं, इसीलिए यह नाम-रूप अभिन्न तत्त्व भी नहीं, तथा एकरस सर्वत्र स्थित भी नहीं। इस प्रकार विरुद्ध स्वभाववाले दो तत्त्व मालूम पड़ते हैं। इन दोनों में से सत्-चित् तत्त्व तो ब्रह्मरूप ही हैं, और नाम-रूप का कारण परमाणु, प्रकृति आदि के सिद्ध न हो सकने से **परिशेष-न्याय** से माया को ही कारण मानना पड़ता है, यही मायावाद का मूलाधार है, इसीके आधार पर पाँचों प्रकारों का निरूपण किया गया है। इस प्रकार अतिप्रबल सूक्ष्म युक्तियों से निरूपित होने पर भी मायावाद को मायावियों का मायाजाल कहना, मायावाद के रहस्य को समझने में असमर्थ माया-मोहग्रस्त मायापुत्रों को ही शोभा देता है, माया-छायारहित पुरुष तो ऐसा कभी कह ही नहीं सकते। इस तरह मायापरिणामवाद का निरूपण किया गया।



ध्यानाकर्षण

पूर्वोक्त परिणामवाद के विवेचन का ध्यानपूर्वक अध्ययन, मनन और परिशीलन करने पर विदित होगा कि दूध से दही के

दृष्टान्त द्वारा परिणामवाद की, और तिल से तेल के दृष्टान्त द्वारा सत्कार्यवाद की प्रत्यक्ष-अनुभव-मूलक प्रक्रिया का आलम्बन लेकर सांख्यशास्त्र ने कैसे प्रकृति तत्त्व को जगत का उपादानकारण सिद्ध किया। तदनन्तर संकल्प-शक्तिवाद ने योगियों तथा जन-साधारण के अनुभवों के आधार पर किस प्रकार सांख्य की प्रकृति को संकल्प-शक्तिरूप में परिणत कर दिया। तत्पश्चात् वैष्णवों ने शक्ति शक्तिमान् के आश्रित ही रहती है, तथा अग्नि और उसकी दाहिका शक्ति के दृष्टान्त द्वारा शक्तिमान् से सर्वथा भेद नहीं होता, इन दोनों बातों का प्रतिपादन करके किस प्रकार शक्तिविशिष्ट ब्रह्म को जगत का अभिन्न-निमित्त-उपादानकारण सिद्ध किया।

सबके अन्त में मायापरिणामवादियों ने ब्रह्म को शक्तिजन्य परिणाम आदि दोषों से विनिर्मुक्त करने के लिए और मूल-कारण को परिणामी मानने पर अनवस्था आदि दोषों से बचने के लिए तथा केवल शुद्ध निर्गुण निष्क्रिय कूटस्थ ब्रह्म में जगत की कारणता सम्भव न होने से कारणता की संगति लगाने के लिए वैष्णवों की सत्य-शक्ति को कैसे मिथ्या माया के रूप में परिणत कर दिया और माया-उपहित ब्रह्म को जगत का अभिन्न-निमित्त-उपादानकारण सिद्ध किया। इस प्रकार मूलकारण को ओर से विचार करके कार्य की ओर से भी विचार करते हुए कार्य के स्वरूप, सम्बन्ध आदि को अनिर्वचनीय-मिथ्या सिद्ध किया। 'मिथ्या कार्य के अनुरूप कारण को भी मिथ्या ही होना

चाहिए', इस तर्क से माया को भी मिथ्या सिद्ध करके शुद्धब्रह्म को शेष रख लिया। आरम्भवाद तथा परिणामवाद दोनों के अन्त में दिये गये 'ध्यानाकर्षण' शीर्षकों द्वारा यह सहज में ही दृष्टिगोचर हो जाता है कि दोनों वाद सूक्ष्म-अतिसूक्ष्म गवेषणा करते हुए किस प्रकार अन्त में निर्विशेष तत्त्व पर पहुँच जाते हैं।



उपादानवादों के दृष्टिकोण

तन्तुसंयोग से निर्मित पटरूप कार्य को दृष्टान्त बनाकर जगतकार्य के उपादानकारण की खोज विभाजन-प्रक्रिया के दृष्टिकोण से करने पर निरवयव परमाणु की ही सिद्धि होगी। एवं दूध के परिणाम दहीरूप कार्य को दृष्टान्त बनाकर परिणामवाद को प्रक्रिया के दृष्टिकोण से उपादान की खोज करने पर परिणामयोग्य प्रकृति तत्त्व की ही सिद्धि होगी। अन्य वादों का खण्डन करके अथवा प्रथम से ही स्वप्नरूप कार्य को दृष्टान्त बनाकर उपादान की खोज करने पर अनिर्वचनीय माया की ही सिद्धि होगी। कोई भी विद्वान् इनका अतिक्रमण नहीं कर सकता। इन तीनों वादों के अन्तर्गत ही अन्य सभी वादों का समावेश हो जाता है। प्रकृतिवादी तथा मायावादी ये दोनों ही सत्कार्यवादी होने के कारण उक्त तीनों वादों का भी सत्कार्यवाद और असत्कार्यवाद इन दो वादों में ही अन्तर्भाव हो जाता है।

अतः इन्हीं दोनों वादों का समन्वय दिखाने का प्रयास आगे किया जाता है।—

जगत-उपादानवादसमन्वय

हम सबको जगत के अतिस्थूल कारण तथा कार्यों का ही प्रत्यक्ष अनुभव होता है, अतः जगत के मूलकारण को प्रत्यक्ष अनुभव करने का सामर्थ्य न होने के कारण जगत के मूलकारण का प्रत्यक्ष अनुभव न हुआ है, और न होगा। इसी भाव का वर्णन श्रुति में भी किया है **'को अद्धा वेद, क इह प्रवोचत्, कुत अजाता, कुत इयं विसृष्टिः** (तैत्तिरीय ब्राह्मण, २।८।९) इस श्रुति का अर्थ यह है—'साक्षात् कौन जानता है, इस विषय में कौन कह सकता है, यह जगत कहाँ से आया, किस कारण से इसकी रचना हुई है।'

जगत के मूलकारण का प्रत्यक्ष अनुभव करने का सामर्थ्य न होने के कारण जगत के मूलकारण का तथा उस कारण के साथ कार्य के सम्बन्ध का निर्णय अतिस्थूल कार्यों के कारणों का तथा उन कारणों के साथ कार्यों के सम्बन्धों का प्रत्यक्ष अनुभव करके उनसे निकाले हुए नियमों के आधार पर अनुमान द्वारा करना पड़ता है, अथवा श्रद्धापूर्वक शब्द (शास्त्र) प्रमाण द्वारा करना पड़ता है। पिण्ड तथा ब्रह्माण्ड की ऐसी विचित्र रचना है कि सभी मतों के वादियों को स्वपक्ष-अनुकूल दृष्टान्त तथा

युक्तियाँ प्राप्त हो जाती हैं तथा स्व को मान्य शब्द=शास्त्र-प्रमाण भी प्राप्त हो जाते हैं। इसलिए जिसके हृदय में जिस प्रकार के संस्कारों की प्रबलता होती है, उसे वह मत ही अधिक युक्तियुक्त प्रतीत होता है। इसका परिणाम यह होता है कि वह स्वमत को मुख्य और अन्य मतों को गौण मानता है तथा परमत-समर्थक युक्तियों, दृष्टान्तों और शास्त्र-वचनों की स्वमत के अनुकूल अन्य प्रकार से सङ्गति का प्रतिपादन करके स्वमत की पुष्टि भी कर लेता है।

पूर्वोक्त सभी वाद आरम्भवाद और परिणामवाद इन दो वादों के अन्तर्गत आ जाते हैं, क्योंकि सांख्य का प्रकृति तत्त्व ही ईश्वर की शक्ति तथा माया नाम से कथित होकर क्रमशः शक्तियुक्त-ब्रह्मपरिणामवाद तथा मायोपहितब्रह्मविवर्तवाद (मायापरिणाम-वाद) से कथित होता है। विज्ञानवाद तथा शून्यवाद भी क्रमशः चित्‌विवर्तवाद तथा ब्रह्मविवर्तवाद के नामान्तर ही हैं। इसे समझने के लिए डॉ० चन्द्रधर शर्मा द्वारा लिखित 'वेदान्त और बौद्ध दर्शन' नामक ग्रन्थ पढ़ें।

तन्तुओं से अतिरिक्त पट की तथा स्वर्ण से अतिरिक्त कुण्डलादि कार्यों की उपलब्धि नहीं होती। तन्तुओं से शीत का अपनयन तथा शरीर का आच्छादन नहीं होता। ये दोनों बातें सार्वजनीन अनुभव से सिद्ध होने के कारण इनमें किसी भी वादी का विवाद है ही नहीं। यहाँ विचारणीय केवल यह है कि उक्त दोनों बातों का कारण क्या है? क्या कारण से कार्य का अभेद होने

से कार्य की अतिरिक्त (पृथक्) उपलब्धि नहीं होती या इसमें अन्य कोई कारण है ? एवं क्या कारणरूप तन्तुओं से कार्यरूप पट का भेद होने से तन्तुओं से शरीर का आच्छादन नहीं होता या इसमें अन्य कोई कारण है ?

कारण से कार्य की अतिरिक्त उपलब्धि नहीं होती, इस बात पर मुख्यरूप से दृष्टि रखकर परिणामवादी अभेद को मुख्यता देते हैं और शरीर-आच्छादनादि कार्य (क्रिया) भेद को गौण करके अवस्थाभेद से उसकी संगति लगा देते हैं। एवं शरीर-आच्छादन आदि कार्य (क्रिया)भेद पर मुख्यरूप से दृष्टि रखकर आरम्भ-वादी भेद को मुख्यता देते हैं और कार्य की अतिरिक्त अनुपलब्धि की संगति समवाय सम्बन्ध द्वारा अभेद को गौण करके लगा देते हैं। दोनों को ही समान आदर देकर जैन, मीमांसक, निम्बार्काचार्य आदि ने भेदाभेद सम्बन्ध मानकर संगति लगाई है। समानसत्ता-वाले भेद और अभेद का परस्पर विरोध होने के कारण वे दोनों एक साथ नहीं रह सकते, यह तर्क देकर मायावादियों ने विषम-सत्ताक भेदाभेदरूप सम्बन्ध मानकर संगति लगाई है।

इन वादियों के कथनों पर निष्पक्ष तथा तटस्थ दृष्टि से विचार करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि कारण से कार्य का सर्वथा भेद या अभेद मानने पर कार्यकारणभाव ही संभव नहीं होता, इसलिए सभी वादियों ने किसी-न-किसी रूप में भेदाभेद को माना ही है। जैन, मीमांसक, निम्बार्काचार्य आदि समसत्ताक और मायावादी विषमसत्ताक भेदाभेद को स्पष्ट स्वीकार करते ही

हैं। न्याय-वैशेषिक को भी मुख्यरूप से भेद और अमुख्य (गौण) रूप से अभेद मान्य है, एवं सांख्य को मुख्यरूप से अभेद और अमुख्य (गौण) रूप से भेद मान्य ही है। ऐसा होने पर भी किसी-ने भेद को, किसीने अभेद को, किसीने समसत्ताक भेद और अभेद को, किसीने विषमसत्ताक भेद और अभेद को मुख्यता दी है। इस मुख्यता के आधार पर ही वे क्रमशः भेदवादी, अभेदवादी, भेदाभेदवादी, अनिर्वचनीयवादी नामों से कहे जाते हैं। सभी के द्वारा किसी-न-किसी रूप में भेदाभेद को स्वीकार करना समन्वय का आधार उपस्थित कर देता है।

उक्त रीति से जब निष्पक्ष तथा तटस्थ दृष्टि से शब्दों पर नहीं, किन्तु वस्तुस्थिति पर दृष्टि जमाकर विचार करते हैं, तो सत्कार्यवाद और असत्कार्यवाद शब्द जैसे परस्पर विरोधी मालूम होते हैं वस्तुतः वैसे विरोधी निकलते नहीं, इसलिए समन्वयदृष्टि प्राप्त करने में भी विलम्ब नहीं होता। इस रहस्य को हृदयंगम करने के लिए पहले सत्कार्य और असत्कार्य इन दोनों पारि-भाषिक शब्दों की वस्तुस्थिति पर ध्यान देना परम-आवश्यक है, इसलिए इसी पर कुछ लिखा जाता है।

असत्कार्यवादी ने कार्य को असत् कहा है, उनका तात्पर्य यह है कि जल लाने में समर्थ स्थूल-घटरूप कार्य अपनी उत्पत्ति से पूर्व इसी रूप में स्वकारण कपाल या मृत्तिका में नहीं रहता, इसीलिए वे घटरूप कार्य को असत् कहते हैं। विचार करके देखा

जाय, तो सत्कार्यवादी को भी इसमें कोई आपत्ति नहीं, क्योंकि सत्कार्यवादी जो घटरूप कार्य को सत् कहते हैं, उनका भी अभिप्राय यह नहीं है कि जल लाने में समर्थ स्थूलघटरूप कार्य इसी रूप से मृत्तिका में सत् (प्रथम से विद्यमान) है, किन्तु सूक्ष्मरूप से या शक्तिरूप से घट मृत्तिका में विद्यमान (सत्) है, यही सत्कार्यवादियों का अभिप्राय है। अन्यथा जल लाने में समर्थ स्थूलरूप से घटरूप कार्य को मृत्तिका में सत् (प्रथम से विद्यमान) मानने पर उसकी अभिव्यक्ति के लिए भी प्रयास करना व्यर्थ होगा।

जिस वस्तुस्थिति को सत्कार्यवादी सूक्ष्मघट या शक्तिरूपघट शब्द से कहता है, उसी वस्तुस्थिति को असत्कार्यवादी घटप्रागभाव शब्द से कहता है। यह बात ऊपर लिखे उनके अभिप्रायों पर ध्यान देने से अतिस्पष्ट हो जाती है, क्योंकि उत्पत्ति या अभिव्यक्ति से पूर्व जल लाने में समर्थ स्थूलघट तो दोनों के मतों में अविद्यमान ही है, और कारण मृत्तिका में शक्ति (सूक्ष्म) रूप से या प्रागभावरूप से घट दोनों मतों में विद्यमान है। इस प्रकार शब्दों पर नहीं किन्तु वस्तुस्थिति पर ध्यान देकर देखा जाय तो दोनों मतों में कोई भेद नहीं। कार्य को असत् या सत् कहने का कारण यह है कि असत्कार्यवादी ने जल लाने में समर्थ स्थूलघट को ही 'घट' पद का वाच्य माना है, ऐसा घट उत्पत्ति से पूर्व विद्यमान न होने के कारण उसे उनका 'असत्' कहना ठीक ही है। एवं सत्कार्यवादी ने शक्तिरूप (सूक्ष्मरूप) से स्थित घट को भी 'घट' शब्द का वाच्य माना है, उसे प्रथम से

विद्यमान होने के कारण उनका 'सत्' कहना भी ठीक ही है। यही निष्पक्ष समन्वयदृष्टि है।

वादियों ने एक-दूसरे का खण्डन तो उनकी वस्तुस्थिति की उपेक्षा करके उनके शब्दों का अर्थ अपनी रीति से लगा करके किया है। जैसे 'असत्' शब्द का अर्थ वन्ध्यापुत्र की तरह सर्वथा असत् (तुच्छ) करके सत्कार्यवादी ने असत्कार्यवाद का खण्डन किया है। वैसे ही 'सत्' शब्द का अर्थ क्रिया करने में समर्थ स्थूल-कार्य करके असत्कार्यवादी ने सत्कार्यवाद का खण्डन किया है। स्व-पर-दर्शन-मर्मज्ञ-विद्वान्-वादी ऊपर कथित वस्तुस्थिति से भली-भाँति परिचित थे, तो भी 'एक सिद्धान्त में पूर्ण निष्ठा होने पर ही तत्त्व समझने-समझाने में सुगमता होती है' इस तथ्य को ध्यान में रखकर जिज्ञासु की स्व-सिद्धान्त में पूर्ण निष्ठा कराने के लिए ही परमतों का खण्डन किया है। इस प्रकार जिज्ञासु के कल्याण के लिए ही परमतों का खण्डन और स्वमत का मण्डन किया गया है, राग-द्वेषपूर्वक खण्डन-मण्डन नहीं किया गया।

जिज्ञासु के कल्याण को दृष्टि में रखकर ही 'उत्पत्ति की उत्पत्ति मानने पर अनवस्था और उत्पत्ति को नित्य मानने पर सिद्धान्त-हानि होगी', तथा 'सर्वथा असत् कार्य का स्वप्रागभाव से सम्बन्ध निरूपित नहीं किया जा सकता', इत्यादि दोष प्रदर्शित करके सत्कार्यवादी ने असत्कार्यवादी का खण्डन किया है। एवं 'अभिव्यक्ति की अभिव्यक्ति मानने पर अनवस्था होगी, और अभि-व्यक्ति को नित्य मानने पर करणव्यापार की व्यर्थता होगी',

इत्यादि दोष प्रदर्शित करके असत्कार्यवादी ने सत्कार्यवादी का खण्डन किया है। यहाँ भी वस्तुस्थिति की उपेक्षा बुद्धिपूर्वक की गयी है, क्योंकि दोनों मतों में ऊपर प्रदर्शित रीति से स्व-स्व-परिभाषा-अभिमत वस्तुरूप कार्य को ही सत्-असत् कहा है, उत्पत्ति या अभिव्यक्ति या इनके उत्पादक या अभिव्यञ्जक करण-व्यापाररूप क्रिया को सत्-असत् नहीं कहा।

यद्यपि तत्-तत् (उन-उन) विशेष कार्यों की तत्-तत् विशेष सूक्ष्मावस्था (शक्ति या योग्यता) को ही सत्कार्यवादी 'सत्' शब्द से कहता है, और वह 'सत्' तत्-तत् विशेष कारणों में ही रहता है, सर्वत्र नहीं रहता। एवं तत्-तत् विशेष कार्यों के विशेष प्रागभाव को ही असत्कार्यवादी 'असत्' शब्द से कहता है और वह 'असत्' तत्-तत् विशेष कारणों में ही रहता है, सर्वत्र नहीं रहता। इस तथ्य से भलीभाँति परिचित होते हुए भी इसकी उपेक्षा की गयी और यह प्रश्न उठाया गया कि निर्विशेष सत् मात्र की या निर्विशेष असत् (प्रागभाव) की सर्वत्र स्थिति होते हुए भी सर्व-कारणों से सर्वकार्यों की उत्पत्ति क्यों नहीं होती ? यह सब भी जिज्ञासु के कल्याण के लिए एक मत में पूर्ण निष्ठा कराने के लिए ही किया गया है।

वास्तविक बात यह है कि क्रियासमर्थ स्थूल कार्य की उत्पत्ति या अभिव्यक्ति से पूर्व कारण में स्थित कार्य की जिस अवस्था को सत्कार्यवादी 'सूक्ष्मावस्था', 'शक्ति', 'योग्यता' या 'सत्' शब्द से

कहता है, कारण में स्थित कार्य की उसी अवस्था को असत्-कार्यवादी 'असत्' या 'प्रागभाव' शब्द से कहता है। 'किस कारण में किस कार्य की शक्ति या प्रागभाव रहता है' इस बात का निर्णय दोनों मतों में अन्वय-व्यतिरेकरूप युक्ति से ही होता है। इस प्रकार वस्तुस्थिति पर दृष्टि रखते हुए विचार करनेवाले विद्वानों की दृष्टि में 'प्रागभाव' या 'असत्' तथा 'सूक्ष्मावस्था (शक्ति)' या 'सत्' शब्दों के वाच्यार्थों में वस्तुस्थिति से कोई भेद नहीं प्रतीत होता, इसलिए समन्वय का आधार भी दृष्टिगोचर हो जाता है।

सत्कार्यवादी और असत्कार्यवादी ने परस्पर यह जो आक्षेप किया है कि 'भेद या अभेद सर्वत्र समान होने से सभी कारणों से सभी कार्यों की उत्पत्ति या अभिव्यक्ति क्यों नहीं होती ?' इसका समाधान भी उक्त रीति से वस्तुस्थिति पर दृष्टि रखकर विचार करने पर सहज ही प्राप्त हो जाता है, उसे ही संक्षेप में प्रदर्शित किया जाता है। सत्कार्यवादी को घटादि कार्यविशेष से निरूपित मृत्तिकादि कारणविशेष के साथ घटादि कार्यविशेष का अभेद ही स्वसिद्धान्त में 'अभेद' शब्द से अभिमत है, निर्विशेष अभेदमात्र अभिमत नहीं। एवं असत्कार्यवादी को भी पटादि कार्यविशेष से निरूपित तन्तु आदि कारणविशेष के साथ पट आदि का भेद ही स्वसिद्धान्त में 'भेद' शब्द से अभिमत है, निर्विशेष भेदमात्र अभिमत नहीं। इस वस्तुस्थिति को भलीभाँति जानते हुए भी उसकी उपेक्षा करके निर्विशेष अभेद या भेद को लेकर परस्पर आक्षेप करना भी जिज्ञासु के कल्याण के लिए ही है, राग-द्वेष के

लिए नहीं, क्योंकि विशेषभेद या विशेषअभेद सर्वत्र समानरूप में स्थित न होने के कारण आक्षेप का अवसर ही नहीं।

वास्तविक बात यह है कि आरम्भवाद तथा परिणामवाद दोनों ही सार्वजनीन निर्विवाद अनुभवों को आधार बनाकर सूक्ष्म गवेषणा करते हुए स्थूलजगतरूपी कार्य अपने स्थूल नाम-रूप का परित्याग करके जिस तत्त्व में स्थित होता है, उसी एक ही तत्त्व को अपनी-अपनी प्रक्रिया के अनुसार परमाणु, प्रकृति (शक्ति, माया, अविद्या) आदि शब्दों से कहते हैं। यह बात हमारे ऋषियों ने निस्संकोच स्पष्ट शब्दों में निम्न श्लोकों में कही है।

नामरूपविनिर्मुक्तं यस्मिन् सन्तिष्ठते जगत्।
तमाहुः प्रकृतिं केचित् मायामेके परे त्वणून्॥

(योग० वा० निर्वाण प्रकरण, पूर्वार्धं, १२८। २१)

अर्थ—नाम-रूप से विनिर्मुक्त जगत जिसमें स्थित होता है, उसे कोई प्रकृति कहते हैं, कोई माया कहते हैं, कोई परमाणु कहते हैं।

इत्येषा सहकारिशक्तिरसमा माया दुरुन्नीतितो।
मूलत्वात् प्रकृतिः प्रबोधभयतोऽविद्येति यस्योदिता॥

(न्यायकुसुमाञ्जलि, १। २०)

अर्थ—जिस तत्त्व को विषम सहकारी शक्ति कहा जाता है, उसी तत्त्व को कठिनता से अतिक्रमण किया जा सकने के कारण माया कहते हैं, और सभी का मूलकारण होने से प्रकृति कहा जाता है, तथा विद्या से भयभीत होने के कारण अविद्या कहते हैं।

समन्वय के आधार

पूर्वोक्त वादियों के परमत-खण्डनपूर्वक स्व-स्व-मत-स्थापन का और मेरे द्वारा प्रदर्शित समन्वय का ध्यानपूर्वक अध्ययन, मनन और परिशीलन करने पर निम्नलिखित समन्वय के आधार प्राप्त होते हैं।

१. सभी वादियों ने तार्किक दृष्टि से सार्वजनीन अनुभवों को आधार बनाकर गवेषणा प्रारम्भ की है।

२. सभी ने स्व-स्व-प्रक्रिया के अनुसार विचार प्रारम्भ किया, अन्त में बुद्धि की गति कुण्ठित हो जाने पर अन्तिम तत्त्व को जैसा मानना अनिवार्य हो गया वैसा उसे माना है, अतः इस मान्यता को अन्धविश्वास नहीं कहा जा सकता।

३. सभी ने अपने प्रतिवादियों के प्रारम्भिक प्रक्रिया-क्रम की बुद्धिपूर्वक उपेक्षा करके उनकी अन्तिम मान्यता पर ही प्रबल प्रहार किया है।

४. सभी ने अन्त में **परिशेषन्याय** का सहारा लेकर स्वमत की सिद्धि की है। उदाहरण के लिए मायावाद के आद्य आचार्य श्रीशङ्कराचार्यजी के वचन देखिए—**'पारिशेष्यात् सदेकमेव वस्तु अविद्यया·······अनेकधा विकल्प्यते'** (गीता, १८। ४८) अर्थात् परिशेष से एक सद्वस्तु ही अविद्या (माया) के द्वारा अनेक रूप में कल्पित होती है।

५. पिण्ड तथा ब्रह्माण्ड की विचित्र रचना के कारण सभी को

स्वपक्ष-साधक, परपक्ष-बाधक युक्तियाँ और दृष्टान्त प्राप्त हो जाते हैं।

६. सभी ने परपक्ष-साधक, स्वपक्ष-बाधक दृष्टान्तों की गौण रीति से सङ्गति बताकर स्वपक्ष-साधक, परपक्ष-बाधक दृष्टान्तों को मुख्यता देकर स्वसिद्धान्त की पुष्टि की है।

७. सभी ने प्रतिवादी के पारिभाषिक शब्दों के प्रतिवादी-अभिमत अर्थ की बुद्धिपूर्वक उपेक्षा की है और उनके शब्दों का स्वसिद्धान्त के अनुसार अर्थ करके उनका खण्डन किया है। ऐसा जिज्ञासु के कल्याण के लिए ही किया गया है, राग-द्वेष या अज्ञान के कारण नहीं किया गया।

८. सभी दर्शनों के पारिभाषिक शब्दों की तथा उन शब्दों से प्रतिपादित अर्थों की वस्तुस्थिति पर दृष्टि रखकर विचार करने पर समन्वय हो जाता है।

९. सभी स्वपक्ष के निर्बल स्थल को या तो उपस्थित ही नहीं करते, उपस्थित कर भी देते हैं तो उसका समाधान स्वपक्ष में स्वप्रक्रिया से नहीं करते, किन्तु परपक्ष में भी वैसा ही दोष प्रदर्शित करके परपक्षी को चुप कर देते हैं और इतने से ही स्वपक्ष का समर्थन मान लेते हैं।

१०. वेद को प्रमाण माननेवाले परस्पर-विरुद्ध-सिद्धान्तवादी भी स्वपक्ष-साधक श्रुतियों को मुख्यता देकर परपक्ष-साधक स्वपक्ष-बाधक श्रुतियों की गौण रूप से संगति लगा देते हैं।

श्रुति-भाष्यों का तुलनात्मक अध्ययन करने पर यह स्पष्ट अनुभव में आ जाता है।

जिन विचारकों ने वादियों के विवादास्पद विषयों की वस्तु-स्थिति पर दृष्टि रखकर विचार नहीं किया, किन्तु सत्-असत्, भेद-अभेद, सत्कार्य-असत्कार्य आदि परस्पर विरुद्ध शब्दों पर ही दृष्टि रखी तथा 'उत्पत्ति की उत्पत्ति या अभिव्यक्ति की अभिव्यक्ति मानने पर अनवस्था दोष होगा' इत्यादि शुष्क तर्कों पर ही ध्यान केन्द्रित किया, उन्हें उक्त समन्वय दृष्टिगोचर नहीं हुआ। इसीलिए साधु शान्तिनाथ और राहुल सांकृत्यायन-जैसे प्रतिभाशाली विद्वानों को सम्पूर्ण जीवन दर्शनशास्त्रों के अध्ययन में व्यतीत करके भी सभी शास्त्र परस्पर विरुद्ध-अर्थ-प्रतिपादक, अन्ध-विश्वासी पाखण्डी पुरुषों द्वारा रचित ही प्रतीत हुए। अतः वस्तु-स्थिति पर दृष्टि रखकर ही अध्ययन करना चाहिए।

जगत-उपादान-विचार का मुमुक्षु के लिए उपयोग

यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि महान् परिश्रमपूर्वक दीर्घकालपर्यन्त शास्त्रों का अध्ययन करके किसी एक प्रक्रिया के अनुसार परमाणु या प्रकृति अथवा माया को जगत के मूलकारण में निश्चित कर लिया जाय, अथवा उक्त रीति से उनके समन्वय का निश्चय हो जाय, तो भी दुःखों से मुक्ति चाहनेवाले मुमुक्षु को व्यर्थ परिश्रमरूप दुःख के अतिरिक्त क्या सुख प्राप्त होगा? मुमुक्षु की दृष्टि से तो इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जगतरूप कार्य के

अन्तर्गत शरीर भी है, शरीर का उपादानकारण सत्य परमाणु या सत्य प्रकृति है अथवा मिथ्या माया (अविद्या) है, इसका भी निर्णय अवश्य हो जायगा। इसके साथ ही यह भी निर्णय अवश्य हो जायगा कि शरीर के साथ आत्मा का सम्बन्ध सत्य है या मिथ्या ? इस निर्णय से सम्पूर्ण दुःखों के मूलकारण शरीरसम्बन्ध को दूर करने के लिए शारीरिक-मानसिक कर्म या ज्ञान मुख्य साधन होगा यह निर्णय करने में सुगमता होगी। जिससे साधना के मार्ग में निष्कम्प प्रवृत्ति हो सकेगी, जो कि मुमुक्षु के लिए परम आवश्यक है, क्योंकि किसी निष्कम्प साधना द्वारा दुःखों के मूल-कारण शरीरसम्बन्ध की निवृत्ति होने पर ही दुःखों से मुक्ति हो सकेगी।

इस अलौकिक लाभ के अतिरिक्त कोई लौकिक लाभ जगत के उपादानकारण को जानने से नहीं होता, क्योंकि दर्शनशास्त्रों के अध्ययन से अग्नि आदि कार्यों का कारण, परमाणु या प्रकृति या माया को निश्चित करें अथवा समन्वयदृष्टि से इनकी एकरूपता का निश्चय करें, तो भी अग्नि आदि पदार्थों से होनेवाले दाह, पाक, प्रकाश आदि कार्यों का लाभ उसी प्रकार होगा जिस प्रकार एक दर्शनशास्त्र के नाम से भी अपरिचित पशुपाल को होता है।

कुछ विद्वानों का कहना है कि मायावाद के अनुसार विचार करने पर मुमुक्षु संसार तथा शरीर सबको मिथ्या निश्चित करेगा तो संसार-शरीरादि से वैराग्य होगा, जिससे इनका त्याग करने में

सुगमता होगी। यह कथन किसी अंश में ठीक होने पर भी सर्वांश में ठीक नहीं, क्योंकि राग का मुख्य हेतु सुखद बुद्धि है, सत्यत्व बुद्धि नहीं। कारण कि रङ्गमञ्च पर प्रदर्शित सत्य पुरुषों द्वारा अभिनय में सत्यत्व बुद्धि होने पर भी वैसी प्रवृत्ति नहीं होती, जैसी प्रवृत्ति चलचित्रों के अभिनय में मिथ्यात्व बुद्धि के होने पर भी होती है। इसका एकमात्र कारण चलचित्र में अधिक सुखद बुद्धि का होना ही है।

'व्यर्थ परिश्रमरूप दुःख के अतिरिक्त क्या सुख प्राप्त होगा ?' इस वाक्य को भौतिकवादियों का आक्षेप मानकर भी विचार करना अतिआवश्यक है, क्योंकि प्रायः भौतिकवादी ऐसा आक्षेप करते ही हैं। इस आक्षेप का उत्तर यह है कि यदि सर्वथा लौकिक दृष्टि से ही विचार करें तो सभी अल्प या महान् परिश्रमों के भिन्न-भिन्न अवान्तर फलों के होते हुए भी सबका अन्तिम फल सुख ही है, और सुख की अनुभूति अभीष्ट विषय में तन्मयता होने से ही होती है, यह बात सर्व के अनुभव से निर्विवाद सिद्ध है।

सुख की इस अत्यन्त लौकिक परिभाषा के अनुसार भी विचार करें तो संसारी विषयासक्त पुरुष कामवार्ता, मधुरगानरूप शब्द, स्रक्-चन्दन-वस्त्र-वनिता आदि के स्पर्श, रूप, रस, गन्धरूप अभीष्ट विषयों में तन्मयता को प्राप्त होकर जिस सुख का जितना अनुभव करते हैं, तथा जगत-उपादानकारण के तत्त्वजिज्ञासु मनीषी पुरुष भी अभीष्ट शास्त्र या स्वतन्त्र विचार में तन्मयता को प्राप्त होकर जिस सुख का जितना अनुभव करते हैं, वह सुख शब्द आदि

विषयजन्य सुख से किञ्चित् भी न्यून या हेय नहीं होता। मेरी साक्षात् अनुभूति के अनुसार तो विचारजन्य सुख विषयजन्य सुख की अपेक्षा अतिमहान् अतिशय उपादेय ही है। इसका कारण यह है कि विषयजन्य सुख विषयों की पराधीनता में बांधता है, अभीष्ट विषय के नष्ट होने पर दुःख देता है, बलवान् द्वारा अपहृत होने पर भय, और निर्बल द्वारा अपहरण होने पर क्रोध, हिंसा, संघर्ष उत्पन्न करता है, अप्राप्त होने पर दीनता, ईर्ष्या और प्राप्त होने पर मद, अभिमान, दीनों और गुरुजनों का तिरस्कार आदि दोषों को उत्पन्न करता है। इन दोषों द्वारा व्यष्टि तथा समष्टि में अशान्ति का, कलह का, विषमता का, दुःखों का प्रवाह प्रवाहित कर देता है। विचारजन्य सुख उक्त सम्पूर्ण दोषों से सर्वथा विनिर्मुक्त है, इसलिए विषय-सुख सर्वथा तुच्छ और हेय है, विचारजन्य सुख अतिमहान् और अतिशय उपादेय है। अतः भौतिकवादी का उक्त आक्षेप सुख की अत्यन्त लौकिक परिभाषा को भी न समझने के कारण ही है।

यदि कहा जाय कि जो लोग अपने जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक धन-उपार्जन करके अतिरिक्त समय में विचारजन्य सुखानुभूति में मग्न रहते हैं, उनसे तो कोई समाज की हानि नहीं, किन्तु जो लोग सम्पूर्ण जीवन विचार में ही व्यतीत करते हैं और अपने जीवन-निर्वाह का भार समाज पर लाद देते हैं, वे तो समाज के भार ही हैं। भौतिकवादियों का यह आक्षेप भी उचित नहीं, कारण यह है कि जो लोग अश्लील, पतनोन्मुख करनेवाले साहित्य

तथा चलचित्रों आदि के निर्माण में सम्पूर्ण जीवन लगा देते हैं, और उसके द्वारा प्राप्त कला से व्यष्टि तथा समष्टि को पतन के गर्त में डाल देनेवाला मनोरञ्जन करते हैं, तथा उसके द्वारा प्राप्त द्रव्य से अतिविशालभवन, मदनशयन, सुवसन-अशन-पान आदि भोगों का सम्पादन करते हैं, तो भी भौतिकवादी उन्हें भार नहीं मानते।

उक्त दोषों से सर्वथा विनिर्मुक्त शास्त्र-विचार में जो लोग अपना सम्पूर्ण जीवन लगा देते हैं, उससे प्राप्त ज्ञान से व्यष्टि तथा समष्टि को पतन के गर्त से बचानेवाले साहित्य का निर्माण करते हैं, उन ग्रन्थों से तथा कथा-वार्ता द्वारा तत्त्व-जिज्ञासु पुरुषों को ज्ञान का दान, जीवन का उत्थान तथा तत्काल मनोरञ्जन प्रदान करते हैं, और उन जिज्ञासु पुरुषों द्वारा प्रसन्नतापूर्वक स्वेच्छा से प्रदान किये हुए पर्णभवन, वल्कल-वसन, कुशासन-शयन, सामान्य अशन-पान द्वारा सन्तोषपूर्वक जीवन-यापन करते हैं, तो भी ऐसे महापुरुषों को भौतिकवादी समाज का भार मानते हैं, इससे अधिक अज्ञान और क्या हो सकता है? आश्चर्य! महान् आश्चर्य!!

यदि सचमुच ही विचार-शास्त्र सर्वथा अनुपयोगी है तो उन्नति के शिखर पर आरूढ़ वर्तमान के भौतिकवादी राष्ट्र करोड़ों रुपये वेतन देकर उनके अध्ययन-अध्यापन की व्यवस्था में मनीषी पुरुषों को क्यों लगाते हैं? यदि जगत के उपादान का अन्वेषण सर्वथा अनुपयोगी कार्य है तो आज के अतिबुद्धिमान् कहे जानेवाले भौतिकविज्ञानवादी वैज्ञानिक प्रयोगों द्वारा अरबों, खरबों रुपये नष्ट करके उसकी खोज क्यों करते हैं? विचार द्वारा खोज करने

पर तो एक पैसा भी नष्ट नहीं होता, तो भी उसकी निन्दा करते हैं। लौकिक लाभ की दृष्टि से भी देखा जाय तो शास्त्र-विचार द्वारा बुद्धि तीक्ष्ण तथा सूक्ष्म हो जाती है, जिससे लौकिक कार्यों को भी दूर तक विचार करने की क्षमता प्राप्त हो जाती है, जिससे परिणाम में हानिरहित सुखरूप से लौकिक कार्यों का सम्पादन करना सुगम हो जाता है। अतः शास्त्र-विचार व्यर्थ परिश्रमरूप दुःख नहीं किन्तु दुःख से मुक्त करके सुख देनेवाला होने से मुमुक्षु तथा भौतिकवादी दोनों के लिए अति उपादेय है।

—

जगत-निमित्तकारणवाद

(ईश्वर-अनीश्वर-वाद

उपक्रम—पूर्व प्रकरण में कथित जगत के उपादानकारण परमाणु या प्रकृति (शक्ति, अविद्यारूपा माया) जगतरूप कार्य के आकार में स्वयं परिवर्तित हो जाते हैं ऐसा किसी भी वादी ने स्वीकार नहीं किया, क्योंकि कोई भी कार्य बिना किसी निमित्त-कारण के उत्पन्न हो जाता हो ऐसा लोक में कहीं भी देखने में नहीं आता। कार्य की उत्पत्ति, निमित्तकारण के बिना मानने पर सदा ही सब कार्यों की उत्पत्ति होनी चाहिए। ऐसी दशा में निमित्त कारण के अभाव से कार्य का अभाव सिद्ध न किया जा सकेगा, जिससे कार्यपदार्थों की नित्यता की आपत्ति होगी। ये सब बातें अनुभव विरुद्ध होने के कारण किसीको भी मान्य नहीं हो सकतीं। इसीलिए सभी वादियों ने कार्य की उत्पत्ति में उपादानकारण की तरह किसी निमित्तकारण को भी अवश्य स्वीकार किया है।

वह निमित्तकारण जड़ है ? या चेतन है ? या उभयरूप है ? इस प्रश्न के उत्तर में वादियों को दो विभागों में विभक्त किया जा सकता है। (१) जैन, बौद्ध, मीमांसक और सांख्य ने प्राणियों के विचित्र जड़ कर्मों को ही विचित्र सृष्टि में निमित्तकारण माना है। (२) न्यायवैशेषिक-योग-वेदान्त-शैवों और वैष्णवों आदि ने प्राणि-कर्मसहकृत सर्वज्ञ-चेतन (ईश्वर) को निमित्तकारण माना है। ये

दोनों पक्ष परपक्ष-खण्डनपूर्वक स्वपक्ष का मण्डन किन युक्तियों से करते हैं, इसे संक्षेप में मुख्य-मुख्य युक्ति-प्रदर्शनपूर्वक प्रथम प्रदर्शित किया जायगा। तदनन्तर उनमें कहाँ तक किस प्रकार समन्वय हो सकता है इसे प्रदर्शन करने का प्रयास किया जायगा। तत्पश्चात् भिन्न-निमित्त-उपादानवादियों की और अभिन्न-निमित्त-उपादान-वादियों की युक्तियों का भी संक्षेप में प्रदर्शन करके उनमें भी कहाँ तक किस प्रकार समन्वय हो सकता है, उसे प्रदर्शित करके प्रकरण को समाप्त किया जायगा। दोनों पक्षों के खण्डन-मण्डन का विस्तारपूर्वक अध्ययन तो उनके ग्रन्थों में ही करना चाहिए।

——

कर्म-निमित्तकारणवाद

प्राणिकृत शुभाशुभ कर्म मात्र को ही निमित्तकारण मानने-वाले जैन, बौद्ध, सांख्य और मीमांसक का कहना है कि ईश्वर को निमित्तकारण माननेवाले वादियों को भी ईश्वर में वैषम्य-नैर्घृण्य (निष्ठुरता) दोष का निराकरण करने के लिए प्राणिकृत कर्मों को भी निमित्तकारण मानना ही पड़ता है। तत्-तत् उचित देश-काल में भोक्ता प्राणियों को जन्म देना, प्राणियों के विचित्र कर्म-फलभोग के लिए उनके योग्य भोग्यपदार्थों का उत्पादन करना, उन भोग्यपदार्थों का भोक्ता प्राणियों के साथ संयोग-वियोग कराना, इत्यादि कार्यों की सम्यक् व्यवस्था के लिए जिस सामर्थ्य

से सम्पन्न ईश्वर को भी निमित्तकारणरूप से स्वीकार किया जाता है, उस सामर्थ्य को उभयपक्ष-स्वीकृत प्राणिकर्म में ही स्वीकार कर लिया जाय तो लाघव होगा।

दूसरी बात यह है कि ईश्वर की सिद्धि किसी भी प्रमाण से नहीं की जा सकती। ईश्वर को मान भी लिया जाय तो साकार या निराकार ईश्वर द्वारा जगत की रचना का प्रतिपादन करना संभव नहीं। आप्तकाम ईश्वर की प्रयोजन के बिना सृष्टि की रचना में प्रवृत्ति का होना भी सम्भव नहीं। इन सब कारणों से भी प्राणिकृत कर्मों से अतिरिक्त ईश्वर को भी निमित्तकारणरूप से स्वीकार करना उचित नहीं। ईश्वर का खण्डन करके किस प्रकार परिशेषन्याय से भी कर्म-निमित्तकारणवाद का मण्डन करते हैं, इसे संक्षेप में नीचे प्रदर्शित किया जाता है।—

—·—

ईश्वर-खण्डन

घट आदि कार्य निमित्तकारणरूप चेतन कर्ता कुम्भकार द्वारा ही निर्मित होते हैं। इससे यह नियम सिद्ध होता है कि जो-जो कार्य होता है वह-वह किसी कर्ता द्वारा ही निर्मित होता है, और वह कर्ता उस कार्य के उत्पादन के ज्ञान से तथा सामर्थ्य से सम्पन्न होता है, तभी इच्छा होने पर कार्य का उत्पादन कर सकता है, अन्यथा नहीं कर सकता। इस नियमानुसार जगतरूप महान् कार्य

को देखकर जगत का कर्ता भी महान् ज्ञानसम्पन्न, महान् प्रयत्न (सामर्थ्य) सम्पन्न इच्छापूर्वक जगत की रचना करनेवाला होगा, ऐसा अनुमान प्रमाण से सिद्ध होता है। तथाहि—'जगत्कार्यं, तदनुकूलज्ञानप्रयत्नेच्छासम्पन्नकर्तृपूर्वकं, कार्यत्वात्, घटवत्'। इस प्रकार अनुमान प्रमाण से ईश्वरवादी ईश्वर को सिद्ध करने का प्रयास करते हैं। उनका यह अनुमान निम्नलिखित अनेक दोषों से दूषित होने के कारण ईश्वर को सिद्ध नहीं कर सकता।

१. जिस प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर ऊपर कथित अनुमान प्रमाण की रचना की गयी है, उस प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर ही ईश्वररूप कर्ता को अनित्यज्ञान-इच्छा-प्रयत्नवाला तथा अनित्य-शरीरवाला भी मानना होगा। कारण कि व्याप्ति (नियम) ग्रहण के स्थलों में घट आदि कार्यों के कर्ता अनित्यज्ञान-इच्छा-प्रयत्न-वाले तथा अनित्यशरीरवाले ही देखने में आते हैं। इस व्याप्ति के अनुसार यदि ईश्वर को भी अनित्यज्ञान-इच्छा-प्रयत्नवाला तथा अनित्यशरीरवाला स्वीकार कर लिया जाय तो ईश्वर का ईश्वरत्व ही समाप्त हो जायगा।

उक्त कथन का तात्पर्य यह है कि यदि ईश्वर अनित्यज्ञान-इच्छा-प्रयत्न द्वारा जगत की रचना करे तो उस अनित्य-इच्छा का उत्पादक अनित्यज्ञान और अनित्यज्ञान के उत्पादक आत्ममनः-संयोग को स्वीकार करना पड़ेगा। अनित्यज्ञान और अनित्य-इच्छा के आधाररूप से और अनित्यज्ञान-इच्छापूर्वक होनेवाले प्रयत्न को चरितार्थ करने के लिए स्थूल या सूक्ष्म अवयवोंवाला

अनित्यशरीर भी अवश्य स्वीकार करना होगा, अन्यथा ईश्वर कर्ता न बन सकेगा । अनित्यज्ञान-इच्छा-प्रयत्न-शरीर भी कार्य होने के कारण उनके उत्पादन के लिए अन्य अनित्यज्ञान-इच्छा आदि मानने पर अनवस्था आदि दोष होंगे। यदि ईश्वर के ज्ञान-इच्छा-प्रयत्न को नित्य माना जाय तो सर्वपदार्थों की नित्य ही उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय माननी होगी, जो कि सर्व के अनुभव से विरुद्ध होने के कारण किसीको भी मान्य न होगी। व्याप्तिग्रहण-स्थलों में कहीं भी नित्यज्ञान-इच्छा-प्रयत्नयुक्त कर्ता दृष्ट न होने के कारण व्याप्तिग्रहण ही न हो सकेगा, व्याप्तिग्रहण के बिना अनुमान द्वारा ईश्वर को कैसे सिद्ध करोगे ?

२. अन्योन्याश्रय दोष से दूषित होने के कारण वेदप्रमाण द्वारा भी ईश्वर सिद्ध नहीं हो सकता। कारण कि सर्वज्ञ ईश्वर द्वारा रचित होने से वेदों की प्रमाणरूपता सिद्ध होगी, और उन प्रमाणरूप वेदों में प्रतिपादन होने से ईश्वर की सिद्धि होगी। इस अन्योन्याश्रय दोष का परिहार करने के लिए यदि वेदों को ईश्वररचित नहीं मानेंगे तो अनाप्तप्रणीत होने से या आप्तप्रणीत न होने से वेदों की प्रमाणरूपता ही सिद्ध न होगी, ऐसी दशा में अप्रमाणरूप वेदों द्वारा ईश्वर की सिद्धि कैसे कर सकोगे ?

३. यद्यपि ऊपर कथित रीति से खण्डित हो जाने के कारण ईश्वर की सिद्धि नहीं होती, तथापि किसी प्रकार मान लें तो भी ईश्वर का सर्वज्ञ मानना तो सर्वथा ही अयुक्त है। कारण कि अतीत-अनागत वस्तुएँ स्वरूप से ही विद्यमान न होने के कारण

उनका प्रत्यक्ष अनुभव योग-साधना से या प्रतिभा से या मानस-प्रत्यक्ष से भी संभव नहीं। यदि कहें कि ईश्वर की सर्वज्ञता उक्त या अनुक्त किसी साधन से जन्य नहीं, किन्तु स्वाभाविक ही है, तो यह कथन भी उचित नहीं, कारण कि स्वभाव से ही सर्वज्ञ ईश्वर यदि प्राणियों के भावी जन्म-कर्म को न जाने तो सर्वज्ञता व्याहत होगी। यदि वह सर्वज्ञ ईश्वर प्राणियों के भावी जन्म-कर्म को भी जानता है कि अमुक प्राणी अमुक जन्म में अमुक शरीर धारण करके अमुक देश-काल-परिस्थिति में अमुक साधनों द्वारा अमुक शुभ-अशुभ-भावनापूर्वक अमुक शुभ-अशुभ कर्म करेगा, पुनः उन कर्मों का फल भोगने के लिए अमुक देश-काल-योनि में पैदा होगा। ऐसा हो तो ईश्वर की सर्वज्ञता सर्वथा अमोघ होने के कारण प्राणियों को परवश होकर वैसा कर्म अवश्य करना पड़ेगा, पुरुषार्थ द्वारा प्राणी उसमें किञ्चिद् भी परिवर्तन नहीं कर सकेंगे। ऐसी दशा में सदा-सर्वत्र-सर्वथा परतन्त्र होने के कारण मोक्षरूप पुरुषार्थ को कभी भी प्राप्त न कर सकेंगे।

४. आप्तकाम, नित्यतृप्त ईश्वर का कोई स्वप्रयोजन न होने के कारण जगत-रचना में प्रवृत्ति होना भी संभव नहीं। लीलाजन्य आनन्द के लिए भी जगत-रचना करना संभव नहीं, कारण कि लीलाजन्य आनन्द की कामना रखनेवाले को आप्तकाम नित्यतृप्त नहीं कहा जा सकता। यदि जीवों पर दया करने के लिए जगत-रचना में प्रवृत्ति मानी जाय, तब तो दुःखमय सृष्टि न करके सुख-मय सृष्टि ही करनी चाहिए थी। दुःख-निवृत्तिरूप मोक्ष-प्राप्ति के

लिए सृष्टि करना भी संभव नहीं, कारण कि सृष्टि से पूर्व किसी प्राणी को कोई भी दु:ख था ही नहीं। दु:खमय सृष्टि करना तो दु:खनिवृत्तिरूप मोक्ष के सर्वथा विपरीत ही है।

'जैसे दयालु माता-पिता अपने पुत्र को उसके अपराधों का दण्डभोग कराके उन्हें शुद्ध करते हैं, वैसे ही ईश्वर प्राणियों के कर्मों का फलभोग कराके उन्हें शुद्ध करने के लिए सृष्टि करता है।' यह कथन भी ठीक नहीं, कारण कि लौकिक माता-पिता सर्वज्ञ, सर्वसमर्थ न होने के कारण बाह्य दु:खों को कुछ जानकर बाह्य परिस्थितियों में भले ही स्वसामर्थ्य के अनुसार कुछ परिवर्तन कर सकें, किन्तु दु:ख, दु:ख के कारण कुकर्म, कुकर्म के कारण अशुद्ध-अन्त:करण का परिवर्तन करने में समर्थ नहीं। परन्तु ईश्वर तो सर्वज्ञ, सर्वसमर्थ, परमदयालु है, तो भी दु:ख, दु:ख के कारण कुकर्म, कुकर्म के कारण अशुद्ध-अन्त:करण का परिवर्तन क्यों नहीं करता? यह सब परिवर्तन न करके दु:खभोग कराके ही प्राणियों को शुद्ध करता है, इससे तो ईश्वर की दयालुता, सर्वज्ञता, सर्वसमर्थता की व्यर्थता ही सिद्ध होती है।

ईश्वर को सर्वज्ञ होने के कारण प्रार्थना द्वारा दु:ख निवेदन करने की, आप्तकाम होने के कारण वस्तु-अर्पणपूर्वक सेवा-पूजा की, तथा नित्यतृप्त होने के कारण भजन-ध्यान, यशोगान द्वारा सन्तुष्ट करने की भी आवश्यकता नहीं, इसलिए इन साधनों का प्रतिपादन या विधान करना भी व्यर्थ है। अन्यथा संसारी, अल्पदयालु, अल्पज्ञ, अल्पसमर्थ जीवों की अपेक्षा भी ईश्वर को न्यून-

कोटि का मानना होगा। कारण कि संसारी, अल्पदयालु, अल्पज्ञ, अल्पसमर्थ मनुष्य भी किसी दुःखी प्राणी को जब देखते हैं, तब दुःखी प्राणी के द्वारा प्रार्थना न करने पर भी, सेवा-पूजा, यशोगान की अपेक्षा न करके, उसके मना करने तथा गाली देने पर भी अपने अल्पज्ञान, अल्पसामर्थ्य के अनुसार यथासंभव उसके संकट को दूर करते हुए देखे जाते हैं। भोग के लिए जगत-रचना करना संभव नहीं, क्योंकि दुःख या दुःखमिश्रित भोग कराना दयालुता के सर्वथा प्रतिकूल है।

ऊपर कथित प्रबल युक्तियों द्वारा ईश्वर, सृष्टि-रचना में ईश्वर का प्रयोजन, ईश्वर की सर्वज्ञता-सर्वसमर्थता-दयालुता आदि सभी का खण्डन हो जाता है। अतः **परिशेषन्याय** से तथा लाघव होने से प्राणिकृत कर्मों को ही जगत का निमित्तकारण मानना उचित है।

ईश्वर-निमित्तकारणवाद

ईश्वर को निमित्तकारण माननेवाले सभी वादियों का एक स्वर से कथन है कि जड़ कर्मों में प्राणियों को तत्-तत् नियत देश-काल में उत्पन्न करने की तथा उनके भोगयोग्य पदार्थों को भी उत्पन्न करने की सामर्थ्य का होना किसी प्रकार संभव नहीं।

इतना ही नहीं किन्तु प्राणियों का भोगपदार्थों के साथ संयोग-वियोग कराने की तथा व्यवस्थापूर्वक किसी भी कार्य को करने की सामर्थ्य से युक्त होना भी संभव नहीं। जड़ कर्मों की तो बात ही क्या, अल्पज्ञ अल्पसामर्थ्ययुक्त चेतन से भी इन सब कार्यों का होना संभव नहीं, अतः उक्त सब कार्यों के लिए सर्वज्ञ सर्वसमर्थ ईश्वर को अवश्य स्वीकार करना चाहिए। इस प्रकार प्राणिकर्म-सापेक्ष ईश्वर को ही जगत का निमित्तकारण मानना चाहिए। न्याययुक्त गौरव भी न्यायरहित लाघव की अपेक्षा स्वीकार करने योग्य होता है। ईश्वर-खण्डन में जिन युक्तियों का कथन किया है, उन युक्तियों का खण्डन निम्नलिखित युक्तियों से हो जाने के कारण वे युक्तियाँ सारहीन हैं।

——

ईश्वर-मण्डन

१. लोक में घट आदि कार्यों को कुलाल आदि कर्ता द्वारा निर्मित होते देखते हैं। इन व्याप्तिग्रहण के स्थलों से सामान्यतः यह व्याप्ति (नियम) सिद्ध होती है कि जो-जो कार्य होता है, वह-वह कर्ता द्वारा निर्मित होता है, और वह कर्ता उस कार्य के उत्पादन-ज्ञान से तथा सामर्थ्य से सम्पन्न होने पर ही इच्छापूर्वक कार्य को उत्पन्न करता है। इस व्याप्ति को आधार बनाकर प्रथम जगतरूप कार्य के कर्ता रूप में सामान्यतः ईश्वर की सिद्धि करते हैं,

तत्पश्चात् जगत-कार्यरूप पक्ष के बल से उस ईश्वर को सर्वज्ञ, सर्वसमर्थ, नित्यज्ञान-इच्छा-प्रयत्नयुक्त सिद्ध करते हैं।

उक्त कथन का तात्पर्य यह है कि जैसे घट आदि स्थूल कार्यों के कर्ता कुलाल आदि को घट आदि स्थूल कार्यों के अनुकूल स्थूल ज्ञान, स्थूल दण्ड-चक्र आदि उपकरणों से युक्त ही देखते हैं, तो भी जब हम घड़ी आदि सूक्ष्म कार्यों को देखते हैं तब प्रथम सामान्य रूप से उसके कर्ता का अनुमान करते हैं। तत्पश्चात् उस सूक्ष्म कार्यरूप घड़ी का जितने सूक्ष्म ज्ञान तथा सूक्ष्म उपकरणों (साधनों) के बिना उत्पादन होना संभव नहीं होता, उतने सूक्ष्म ज्ञान तथा सूक्ष्म उपकरणों से युक्त उस कर्ता को स्वीकार करते हैं। घट आदि व्याप्तिग्रहण के स्थलों में देखे हुए दण्ड आदि स्थूल उपकरणों से युक्त कर्ता मानने का आग्रह नहीं करते। वैसे ही जगतरूप कार्य सर्वज्ञ, सर्वसमर्थ, नित्यज्ञान-इच्छा-प्रयत्नयुक्त कर्ता ईश्वर के बिना उत्पन्न नहीं हो सकता, इसलिए उसे सर्वज्ञ आदि विशेषणों से युक्त ही मानना चाहिए। घट आदि कार्यों के कर्ता की तरह अनित्यज्ञान-इच्छा-प्रयत्न-शरीरयुक्त मानने का आग्रह नहीं करना चाहिए।

ऊपर कथित नियम को न मानकर व्याप्तिग्रहण-स्थलों के सम्पूर्ण विशेषणों को अनुमान प्रमाण में आवश्यक मानने पर अनुमान प्रमाण मात्र का उच्छेद हो जायगा। अतः नित्यज्ञानादि अन्यत्र दृष्ट न होने पर भी जगतकार्यरूप पक्ष के बल से तदनुरूप नित्यज्ञान-इच्छा-प्रयत्नयुक्त सर्वज्ञ, सर्वसमर्थ, शरीररहित, व्यापक

ईश्वर की सिद्धि में कोई बाधा नहीं हो सकती। इस प्रकार नित्य-ज्ञान आदि के सिद्ध हो जाने के कारण 'ईश्वर के ज्ञान आदि को अनित्य मानने पर अनवस्था दोष और ज्ञान आदि को नित्य मानने पर अन्यत्र अदृष्टता आदि दोषों का जो प्रदर्शन किया गया था' वे भी सारहीन सिद्ध हो जाते हैं। इस विषय में अनेकानेक सूक्ष्म शङ्काओं को तथा उनके समाधानों को जानने के लिए श्रीउदयनाचार्यकृत न्यायकुसुमाञ्जलि (ईश्वर-सिद्धि) नामक ग्रन्थ का टीकाओं सहित अध्ययन, मनन और परिशीलन करना चाहिए।

२. वेद को प्रमाण न माननेवाले वादियों के समक्ष प्रथम उक्त अनुमान द्वारा ईश्वर की सिद्धि करते हैं, पश्चात् उक्त अनुमान द्वारा सिद्ध ईश्वर की वेद-प्रमाण द्वारा पुष्टि करते हैं, और वेदों को भी प्रमाण मानने के लिए नास्तिक को बाध्य करते हैं। वेदों को प्रमाण माननेवालों के समक्ष तो प्रथम वेदों द्वारा ईश्वर को सिद्ध करते हैं, पश्चात् अनुमान प्रमाण द्वारा भी उसकी पुष्टि करते हैं। इस क्रम में अन्योन्याश्रय दोष की गन्ध भी नहीं आ सकती।

३. यद्यपि पूर्वोक्त रीति से ईश्वर की सिद्धि तथा जगतरूप कार्य का उत्पादन सर्वज्ञता के बिना संभव न होने के कारण सर्वज्ञता की भी सिद्धि हो जाती है, तथापि जिन युक्तियों से सर्वज्ञता का खण्डन किया गया है उनका उत्तर दिये बिना प्रतिवादी को सन्तोष न होगा, इसलिए उनका खण्डन किया जाता है।

'अतीत-अनागत वस्तुएँ जब विद्यमान ही नहीं तब उनका साक्षात् अनुभव न हो सकने के कारण ईश्वर सर्वज्ञ कैसे हो सकता है ?' इस प्रश्न का उत्तर यह है कि अतीत-अनागत वस्तुओं का अतीतत्वेन अनागतत्वेन ही प्रत्यक्ष होता है, इसलिए उन वस्तुओं का वर्तमान न होना उनके प्रत्यक्ष में बाधक ही नहीं, किन्तु साधक ही है। अन्यथा अतीत-अनागत वस्तुओं का वर्तमानत्वेन प्रत्यक्ष करनेवाला ईश्वर का ज्ञान मिथ्या ज्ञान होगा, मिथ्या ज्ञान अर्थ का व्यभिचारी होने से अतीत-अनागत वस्तुओं का साधक न होकर बाधक ही होगा।

यदि शङ्का हो कि अतीतत्वेन अनागतत्वेन रूप से वस्तुओं को ग्रहण करनेवाले ज्ञान को प्रत्यक्षज्ञान कैसे कहते हो, क्योंकि वर्तमानत्वेन वस्तु को ग्रहण करनेवाले ज्ञान को ही प्रत्यक्षज्ञान कहते हैं। इस शङ्का का समाधान यह है कि सर्वथा निर्भ्रान्त तथा वर्तमानवस्तुग्राही ज्ञान की तरह सम्पूर्णता से सर्वविशेषणों को ग्रहण करने के कारण उसे प्रत्यक्षज्ञान कहते हैं। इसे स्पष्ट समझने के लिए सर्वजनसाधारण एक दृष्टान्त दिया जाता है।—

किसीको दो वर्ष पूर्व शीतकाल की रात्रि में स्वप्न-अवस्था में प्रत्यक्ष दर्शन हुआ कि मेरे मित्र की पत्नी को अमुक संवत् की ज्येष्ठ मास की भीषण गर्मी में दिन के १२ बजे अमुक प्रकार के प्रसूतिगृह में अमुक आकृति का गौरवर्ण-बालक उत्पन्न हुआ है। जागने पर उसने अपने मित्र तथा अन्य अनेकों लोगों से कहा,

चित्रकार होने के कारण प्रसूतिगृह आदि सहित बालक का चित्र बनाकर लोगों को दिखाया। समय आने पर मित्र की पत्नी गर्भवती हुई, नौ मास बाद पुत्र उत्पन्न हुआ। देश, काल, प्रसूतिगृह, बालक की आकृति-गौरवर्ण आदि जैसा स्वप्न में नेत्रों से प्रत्यक्ष देखा था उन सर्वविशेषणों का सम्पूर्णता से दो वर्ष बाद जाग्रत्-अवस्था में ज्यों-का-त्यों नेत्रों द्वारा प्रत्यक्ष अनुभव किया, लोगों ने भी चित्र से मिलाकर देखा। अब बताइये, दो वर्ष पूर्व गर्भ में भी अविद्यमान बालक का प्रत्यक्ष हुआ या नहीं। यदि कहें कि यह तो स्वाप्निक प्रत्यक्ष है, इन्द्रियजन्य व्यावहारिक प्रत्यक्ष नहीं, तो इसका उत्तर यह है कि योगियों को तथा ईश्वर को जो अतीत-अनागत वस्तुओं का प्रत्यक्षज्ञान होता है, उसे भी इन्द्रियजन्य व्यावहारिक प्रत्यक्ष कोई भी नहीं मानता, उसे भी शास्त्र में यौगिक तथा ईश्वरीय प्रत्यक्ष ही कहा गया है।

'ईश्वर को सर्वज्ञ मानने पर जीवों के पुरुषार्थ की व्यर्थता होगी' ऐसी जो आशङ्का की थी उसका समाधान समझने से पूर्व यह विचार कर लेना आवश्यक है कि ईश्वर की सर्वज्ञता का स्वरूप क्या है ? यदि कहें कि 'अनन्त-अतीत कल्पों में तथा अनन्त-आगामी कल्पों में अनन्त जीवों की प्रतिक्षण होनेवाली शारीरिक, मानसिक एवं वाचिक अनन्त-अनन्त चेष्टाओं का एक साथ एक क्षण में विशेष रूप से अतिस्पष्ट ज्ञान का स्फुरित होना ही सर्वज्ञता है' तो ऐसी असंभव कल्पना नहीं करनी चाहिए और न सर्वज्ञता का ऐसा वर्णन कहीं शास्त्रों में ही मिलता है। सर्वज्ञता

का उक्त स्वरूप मान लेने पर ईश्वर अपार-शान्तिस्वरूप न होकर अपार-अशान्ति (विक्षेप) स्वरूप ही होगा।

शास्त्रों में कथित या लोक में प्रकट किसी सर्वज्ञ योगी की सर्वज्ञता का जैसे इतना ही अर्थ होता है कि वे योगी भूत-भविष्य की सभी बातों को जानने का सामर्थ्य रखते हैं, न कि प्रत्येक क्षण में भूत-भविष्य वस्तुविषयक अनन्त-अनन्त विशेषज्ञान युगपत् (एक साथ) स्फुरित होते रहते हैं। वैसे ही ईश्वर की सर्वज्ञता का अर्थ भी इतना ही होता है कि ईश्वर में अनन्त भूत-भविष्य की सभी बातों को जानने का सामर्थ्य है, न कि प्रत्येक क्षण में एक साथ अनन्त विशेषज्ञान स्फुरित होते रहते हैं। इसीलिए भगवान् शङ्कर भी ध्यान लगाकर ही सती-चरित्र को जानते हैं—

तब शंकर देखिउ धर ध्याना। सतीं जो कीन्ह चरित सब जाना॥

यदि कहें कि ऐसा मानने पर तो योगी की सर्वज्ञता से ईश्वर की सर्वज्ञता में क्या विशेषता हुई ? इसका उत्तर यह है कि योगी की ही नहीं किन्तु इन्द्र-ब्रह्मा आदि की सर्वज्ञता का क्षेत्र उत्तरोत्तर अधिक होता हुआ भी सीमित ही है। किन्तु ईश्वर की सर्वज्ञता का क्षेत्र सर्वथा असीमित है अर्थात् इन्द्र त्रिलोकी की, ब्रह्मा एक ब्रह्माण्ड की ही बातों को जान सकते हैं, परन्तु ईश्वर अनन्त ब्रह्माण्डों की बातों को जान सकते हैं।

मुख्य प्रश्न का उत्तर यह हुआ कि जीवों के भावी जन्मों तथा कर्मों को जानने में समर्थ होना ही ईश्वर की सर्वज्ञता का

स्वरूप है, न कि भावी जन्मों तथा कर्मों को प्रथम से जानकर रखना। अतः ईश्वर के ज्ञान की मोघता (व्यर्थता) या असर्वज्ञता अथवा जीवों के पुरुषार्थ की व्यर्थता आदि किसी भी दोष की प्राप्ति नहीं हो सकती। हाँ, यदि किसी कारणविशेष से किसी जीव के कुछ भावी जन्मों तथा कर्मों को ईश्वर ने अपनी सर्वज्ञता से प्रथम ही जान रखा है तो वैसा अवश्य ही होगा, वहाँ उतने जन्मों तक अमोघ ईश्वर-ज्ञान के विरुद्ध जीव का पुरुषार्थ सफल न होना सिद्धान्त में मान्य ही है।

४. ईश्वर का कोई निजी प्रयोजन न होने पर भी प्राणियों को मोक्ष की प्राप्ति कराने के लिए जगत की रचना करता है। 'जगत की रचना से पूर्व किसीको कोई दुःख नहीं था, सभी जीव दुःख से विमुक्त ही थे, अतः दुःख से विमुक्ति (मोक्ष) के लिए जगत-रचना करना व्यर्थ है', इस शङ्का का समाधान यह है कि जगत-रचना से पूर्व प्रलय की अवस्था में भी दुःखों के बीज अधर्म-संस्कारों के विद्यमान होने के कारण जीवों को उस प्रलय की अवस्था में भी सर्वथा दुःखों से विनिर्मुक्त नहीं कहा जा सकता। 'दुःखमय जगत की रचना करना दुःख से विमुक्ति (मोक्ष) के तथा ईश्वर की दयालुता के भी विपरीत है?' इस प्रश्न का उत्तर यह है कि दुःख भी वैराग्य के लिए परम आवश्यक है, वैराग्य के बिना ज्ञान, भक्ति आदि मोक्ष-साधनों का होना संभव नहीं। शरीर, बुद्धि आदि के बिना भी ज्ञान, भक्ति आदि मोक्ष-साधनों का होना संभव नहीं। इन सबकी प्राप्ति जगत-रचना से ही संभव है।

इस प्रकार ईश्वर जीवों के मोक्ष के लिए जगत की रचना करता है, इस पक्ष में कोई दोष नहीं।

'सर्वसमर्थ तथा परमदयालु होते हुए भी नियमों के परवश होकर दुःखभोग द्वारा ही प्राणियों को शुद्ध करना अपनी अलौकिक सामर्थ्य द्वारा शुद्ध न करना, ईश्वर की सर्वसमर्थता तथा परम दयालुता के विपरीत है।' ऐसी जो आशङ्का की थी उसका समाधान यह है कि स्वनिर्मित नियमों का अतिक्रमण न करना तथा स्वेच्छा से नियम-परवशता को स्वीकार करना सर्वसमर्थता का अभाव-रूप असमर्थता तथा पराधीनता का लक्षण लोक में भी नहीं माना जाता। अतः इसे ईश्वर की सर्वसमर्थता परमदयालुता के विपरीत कहना अज्ञानपूर्वक ही है। प्रार्थना आदि के बिना दुःख दूर न करने में भी स्वनिर्मित नियम का अतिक्रमण न करने का सिद्धान्त ही हेतु है, न कि संसारी पुरुषों से भी गयी-बीती दयालुता !

निर्हेतुकी दयालुता का भी इतना ही अर्थ होता है कि 'अपने स्वार्थ की अपेक्षा के बिना दूसरों के दुःख दूर करने में प्रवृत्त होना।' श्रीरामानुजाचार्यजी ने भी दया का यही लक्षण किया है—**'दया हि नाम स्वार्थनिरपेक्षा परदुःखासहिष्णुता'** (ब्रह्मसूत्र, २। २। ३ श्रीभाष्य)। प्रथम से निर्धारित प्रार्थना आदि की भी अपेक्षा न करने पर ईश्वर में वैषम्य-नैर्घृण्य दोष प्रसक्त होगा। 'जीव अपने पुरुषार्थ द्वारा अनन्त-अनन्त जन्म देनेवाले अनन्त-अनन्त कर्मों का अनन्त-अनन्त कल्पों में भी नाश नहीं कर सकता' ऐसा विचार करके जीवों के कल्याण के लिए प्रार्थना, नाम-जप

आदि सुगम अमोघ उपायों का विधान करना ही ईश्वर की परमदयालुता है।

कर्म-विधान की भाँति प्रार्थना, नाम-जप आदि को भी एक विधान मानकर उस विधान के अनुसार फल देने के लिए पराधीन होने के कारण ईश्वर को दयालु न मानना कृतघ्नता होगी। किसी उदार दयालु धनी पुरुष ने देखा कि मजदूर अधिक-से-अधिक निरन्तर परिश्रम करके भी नियत वेतन प्राप्त कर अपनी दरिद्रता का कभी भी निवारण नहीं कर सकेंगे। ऐसा विचार करके 'पन्द्रह मिनट भावपूर्वक हरि-संकीर्तन करनेवालों की दरिद्रता का निवारण मैं स्वयं धन देकर कर दूँगा' ऐसा नियम दया करके बना दिया, और इस नियम का पालन करनेवालों की दरिद्रता का निवारण कर देता है। यहाँ नियम (विधान) के अनुसार पराधीन होकर दरिद्रता का निवारण करने के कारण उसे दयालु नहीं मानना जैसे कृतघ्नता होगी, वैसे ही ईश्वर को दयालु न मानना भी कृतघ्नता ही होगी।

उक्त विवेचन से यह सिद्ध हो जाता है कि स्वनिर्मित नियम के पराधीन होकर कार्य करनेवाले ईश्वर में प्रार्थना आदि के बिना दुःखों का निवारण न करने के कारण सामर्थ्य का या दया का अभाव नहीं कहा जा सकता, और न उसे संसारी, अल्प-दयालु, अल्पज्ञ, अल्पसामर्थ्यवाले पुरुषों से भी अधिक निम्न श्रेणी का ही कहा जा सकता है।

इस प्रकार अनीश्वरवादी-प्रतिवादी के समस्त कुतर्कों का कर्तन हो जाने के कारण 'प्राणिकृतकर्म-सापेक्ष ईश्वर ही जगतरूप कार्य का कर्तारूप निमित्तकारण है' यह सिद्ध हो गया।

निमित्तकारणवादसमन्वय

पूर्वोक्त प्रकार से केवल प्राणिकृतकर्मों को या प्राणिकृतकर्म-सापेक्ष ईश्वर को निमित्तकारण माननेवाले दोनों पक्षों को तटस्थ दृष्टि से विचार करके देखा जाय तो दोनों में कोई महान् भेद नहीं निकलता। क्योंकि तत्-तत् नियत देश-काल में प्राणियों के कर्म के अनुसार भोग की व्यवस्था के लिए जड़ कर्मों में जिस सामर्थ्य के अभाव से केवल कर्मों को निमित्तकारण माननेवाले वादियों का खण्डन किया गया है, और उस सामर्थ्य के लिए ईश्वर को स्वीकार किया गया है, उस सामर्थ्य को जब कर्मवादियों ने कर्म में ही स्वीकार कर लिया तब वस्तुस्थिति पर दृष्टि रखकर देखा जाय तो नाममात्र का भेद रह गया। तात्पर्य यह है कि निष्पक्ष तटस्थ विचारक को यह विचार करना चाहिए कि जगत की समुचित व्यवस्था करने में समर्थ तत्त्व को दोनों ने स्वीकार किया या नहीं? यदि स्वीकार किया है तो उस तत्त्व की वस्तु-स्थिति का अपलाप न करने के कारण भेद कहाँ रहा? उस तत्त्व की वस्तुस्थिति को स्वीकार करके चाहे कोई उसका नाम ईश्वर

रखे, चाहे कोई कर्म रखे, इससे नामों में ही भेद होगा उस तत्त्व में भेद नहीं होगा।

जगत की समुचित व्यवस्था करने में समर्थ तत्त्व को वस्तु-स्थिति से स्वीकार करके यदि चार्वाक उसे 'स्वभाव' नाम से कहें तो भी किसीको आपत्ति नहीं करनी चाहिए। उस तत्त्व को 'स्वभाव' नाम से कहने में चार्वाक यह तर्क भी दे सकते हैं कि जैसे ईश्वरवादी यह कहते हैं कि व्यवस्थित जगत की समुचित व्यवस्था केवल जड़ कर्मों से नहीं हो सकती, इसलिए व्यवस्थापक चेतन ईश्वर को अवश्य स्वीकार करना चाहिए। वैसे ही कर्म और ईश्वर दोनों को मान लेने पर भी व्यवस्था नहीं हो सकती, इस-लिए स्वभाव को भी स्वीकार करना चाहिए। तात्पर्य यह है कि कर्म तथा ईश्वर दोनों के रहने पर भी अमुक काल में ही जगत की रचना क्यों होती है? इस प्रश्न के उत्तर में यदि यह कहा जाय कि अमुक काल में ही कर्मों का परिपाक होता है, तो पुनः यह प्रश्न होता है कि अमुक काल में ही कर्मों का परिपाक क्यों होता है? यदि यह उत्तर दिया जाय कि कर्मों का स्वभाव ही ऐसा है, तो इस उत्तर से यह स्वतः ही सिद्ध हो गया कि अन्त में स्वभाव ही सर्वोपरि मुख्य कारण है।

यदि कहा जाय कि स्वभाव ही सर्वकार्यों का कारण है तो बिना कुछ किये स्वभाव से ही घट आदि कार्यों की उत्पत्ति हो जानी चाहिए। इस आक्षेप का उत्तर यह है कि ईश्वर को कारण माननेवाले जैसे जगतरूप कार्य को ही ईश्वर से उत्पन्न मानते हैं,

घट आदि कार्यों का कर्ता तो दृष्ट होने के कारण कुलाल को ही मानते हैं वैसे ही हम स्वभाववादी भी जगतरूप कार्य का ही कारण स्वभाव को मानते हैं, घटादि कार्य का कारण दृष्ट होने से कुम्भ-कार को मानते हैं, अतः उक्त आक्षेप व्यर्थ है।

मेरा तात्पर्य यही है कि जगत की समुचित व्यवस्था करने में समर्थ तत्त्व को ही निमित्तकारण कहा जाता है, उस समर्थ तत्त्व को स्वीकार करके कर्म, ईश्वर, स्वभाव, काल आदि किसी भी नाम द्वारा उसे कथन करने पर वस्तुस्थिति में किञ्चित् भी अन्तर नहीं आता। अतः वस्तुस्थिति पर दृष्टि रखकर ही विचार करनेवाले मनीषियों की दृष्टि में समन्वय स्पष्ट अनुभूत होता है। इसी समन्वय को दृष्टि में रखकर मनीषी ऋषियों ने निम्न-लिखित उदार उद्‌गार प्रकट किये हैं।—

यं शैवाः समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनो
बौद्धा बुद्ध इति प्रमाणपटवः कर्तेति नैयायिकाः।
अर्हन्नित्यथ जैनशासनरताः कर्मेति मीमांसकाः
सोऽयं नो विदधातु वाञ्छितफलं त्रैलोक्यनाथो हरिः॥

(हनुमन्नाटक)

जिस तत्त्व की शैव लोग 'शिव' इस नाम से उपासना करते हैं उसी तत्त्व को वेदान्ती 'ब्रह्म', बौद्ध 'बुद्ध', प्रमाणकुशल नैयायिक 'जगतकर्ता' कहते हैं, और उसी तत्त्व को जैनी 'अर्हत्' तथा मीमांसक 'कर्म' नाम से कहते हैं। वे त्रिलोकी के नाथ श्रीहरि मेरे वाञ्छित (अभीष्ट) फल को प्रदान करें।

स एष आत्माऽऽत्मवतामधीश्वर-
स्त्रयीमयो धर्ममयस्तपोमयः ।
गतव्यलीकैरजशङ्करादिभि-
र्वितर्क्यलिङ्गो भगवान् प्रसीदताम् ॥
(भाग०, २ । ४ । १९)

वे भगवान् ही ज्ञानियों की आत्मा हैं, भक्तों के स्वामी हैं, कर्मकाण्डियों (मीमांसकों) के लिए वेदमूर्ति हैं, धर्मियों के लिए धर्ममूर्ति हैं और तपस्वियों के लिए तपःस्वरूप हैं । ब्रह्मा-शङ्कर आदि बड़े-बड़े देवता भी अपने शुद्ध हृदय से उनके शुद्ध स्वरूप का चिन्तन करते और आश्चर्यचकित होकर देखते रहते हैं ।

केचित् कर्म वदन्त्येनं स्वभावमपरे नृप ।
एके कालं परे दैवं पुंसः काममुतापरे ॥
(भाग०, ४ । ११।२२)

राजन् ! इन परमात्मा को ही मीमांसक लोग कर्म, चार्वाक स्वभाव, वैशेषिक मतावलम्बी काल, ज्योतिषी दैव और कामशास्त्री काम कहते हैं ।

भूतयोगजचैतन्यं चार्वाका यमुपासते ।
सौगता ब्रुवते तर्कैः त्वां बुद्धिं क्षणभङ्गुरम् ॥
शरीरपरिमाणं त्वां मन्यन्ते जिनदेवताः ।
ध्यायन्ति पुरुषं सांख्यास्त्वामेव प्रकृतेः परम् ॥
(पद्मपु०, ६ । १२७ । २५२-२५३,
वेंकटेश्वर प्रेस, सं० १९८४)

अर्थ—चार्वाक भूतों के योग से उत्पन्न जिस चेतन्य की उपासना करते हैं। बौद्ध तर्क के द्वारा आपको ही क्षणिक बुद्धि कहते हैं। जैन आपको ही शरीर के समान मानते हैं। सांख्यवादी आपको ही प्रकृति से परे पुरुषरूप में ध्यान करते हैं।

सदाशिवेति तं केचिदाहुर्देवं जगत्पतिम्।
वासुदेवेति चाप्यन्ये कालमित्येव चापरे॥
दैवमित्यपरे तं च स्वभावमिति चापरे।
कर्मेति चापरे प्राहुः पुरुषेति चापरे॥

(विष्णुधर्मोत्तरपु०, १।१७१।१२-१३-१४,
वेंकटेश्वर प्रेस, सं० १९६९)

अर्थ—उन जगत्पति देव को कोई सदाशिव कहते हैं, कोई वासुदेव, कोई काल, कोई दैव, कोई स्वभाव, कोई कर्म और कोई पुरुष कहते हैं।

इसी प्रकार के समन्वय का कथन करनेवाले श्लोक शास्त्रों में अनेकों स्थलों में मिलते हैं, विस्तार-भय से यहां नहीं दिये गये। मनीषी विद्वान् ध्यानपूर्वक शास्त्रों का अध्ययन करेंगे तो उन्हें स्वतः ही दृष्टिगोचर हो जायेंगे।

——

अभिन्न-निमित्तोपादानवाद

श्रीशङ्कराचार्य-मत—श्रीशङ्कराचार्यजी का कहना है कि पूर्वकथित प्रकृति (माया) जगत का परिणामी उपादानकारण है और ईश्वर निमित्तकारण है। इन दो तत्त्वों में से चेतन ईश्वर को जगदन्धता, अनवस्था आदि दोषों से बचाने के लिए सत् स्वयंप्रकाश, स्वतन्त्र, निर्विशेष, निर्विकार अवश्य स्वीकार करना होगा। चेतनस्वरूप ईश्वर से सर्वथा विपरीत होने के कारण जड़ जगत के उपादान रूप से मान्य जड़ माया को असत्, परप्रकाश, परतन्त्र, सविशेष, सविकार ही मानना होगा। चेतन ईश्वर से सर्वथा विपरीत स्वभाववाली होने के कारण माया का चेतन से अभेद नहीं हो सकता, चेतन के बिना माया न रह सकने के कारण माया का चेतन से भेद भी नहीं हो सकता, भेद और अभेद परस्पर विरुद्ध होने के कारण माया का चेतन से भेदाभेद भी नहीं हो सकता। इस प्रकार माया का चेतन के साथ भेद, अभेद या भेदाभेदरूप सम्बन्ध का निर्वचन नहीं हो सकने के कारण अनिर्वचनीय (मिथ्या) सम्बन्ध ही मानना पड़ता है।

माया को यदि सावयव माना जाय तो माया स्वयं कार्यरूप ही सिद्ध होगी, मूलकारण नहीं होगी। माया को यदि निरवयव माना जाय तो भी परिणामी कारण नहीं हो सकेगी, क्योंकि सावयव पदार्थ में ही परिणामी कारणता होती है, निरवयव में

नहीं होती। सावयव तथा निरवयव परस्पर विरुद्ध होने के कारण माया को उभयरूप भी नहीं माना जा सकता। इस प्रकार माया के स्वरूप का भी निर्वचन न हो सकने के कारण माया को स्वरूपतः भी अनिर्वचनीय (मिथ्या) ही मानना पड़ता है। स्वरूप से तथा सम्बन्ध से मिथ्या-मायाविशिष्ट चेतन को ईश्वर कहते हैं, यह ईश्वर ही अन्यनिरपेक्ष जगत का अभिन्न-निमित्त-उपादानकारण है।

श्रीरामानुजाचार्य-मत—श्रीरामानुजाचार्यजी का कहना है कि सर्वथा निर्विशेष चेतन-तत्त्व प्रत्यक्ष अनुभव से या श्रुति-प्रमाण से भी सिद्ध नही होता, क्योंकि श्रुति **'सत्यकामः सत्यसंकल्पः' 'सर्वज्ञः सर्ववित्'** आदि शब्दों से स्पष्ट ही चेतन को सविशेष ही कहती है। निर्विशेष चेतनतत्त्व में जगत-कारणतारूप विशेषता संभव न हो सकने के कारण भी जगत के कारणरूप से स्वीकृत चेतन ईश्वर को सविशेष ही मानना चाहिए। जगत की उपादानभूता अपरा प्रकृति तथा जीवरूपा परा प्रकृति भी चेतनरूप ईश्वर से कभी भी पृथक् न रह सकने के कारण परा-अपरा प्रकृति से अपृथक्-सम्बन्ध-विशिष्ट चेतन ही ईश्वर का स्वरूप है, यही ईश्वर अन्यनिरपेक्ष जगत का अभिन्न-निमित्त-उपादानकारण है।

श्रीनिम्बार्काचार्य-मत—श्रीनिम्बार्काचार्यजी का कहना है कि जड़ तत्त्वरूपा प्रकृति को विशेषण मानने की अपेक्षा शक्ति मानना श्रेष्ठ है, क्योंकि विशेषण के साथ विशेष्य का अभेद किसी

प्रकार से सम्भव न हो सकने के कारण ईश्वर को अभिन्न-निमित्त-उपादान प्रतिपादन करनेवाली श्रुतियों की सम्यक् सङ्गति नहीं की जा सकेगी। प्रकृति को शक्ति मानने पर उन श्रुतियों की भी सङ्गति हो जायगी, कारण यह है कि शक्ति का शक्तिमान् के साथ भेद की तरह अभेद भी होता है, ऐसा लोक में सर्वत्र दृष्ट है। अतः भेदाभेद सम्बन्धवाली प्रकृतिरूपा शक्ति से युक्त चेतन ही ईश्वर का स्वरूप है, यही ईश्वर अन्यनिरपेक्ष जगत का अभिन्न-निमित्तोपादानकारण है। शैव, भास्कर आदि भी ऐसा ही मानते हैं।

——

भिन्न-निमित्तोपादानवाद

श्रीमध्वाचार्य-मत—श्रीमध्वाचार्यजी का कहना है कि प्रकृति से चेतन ईश्वर का भेद मानते हुए भी ईश्वर को अभिन्न-निमित्त-उपादानकारण सिद्ध करने के लिए किसी-न-किसी रूप में अभेद भी उक्त आचार्यों ने मान लिया है। ऐसी दशा में प्रकृतिजन्य परिणाम आदि दोषों से चेतन ईश्वर को बचाया नहीं जा सकता, इसलिए प्रकृति को ईश्वर से सर्वथा भिन्न मानना ही ठीक है। ईश्वर सदा अपने अधीन रहनेवाली प्रकृति से जगत को उत्पन्न करता है, इसमें ईश्वर केवल निमित्तकारण ही है, और प्रकृति केवल उपादानकारण ही है। प्रकृति सदा ही ईश्वर के अधीन रहने के कारण ही श्रुतियों में ईश्वर को अभिन्न-निमित्त-उपादान-

कारण कहा है। जैसे 'अद्वितीय (अकेले) राजा ने विजय प्राप्त कर ली' इस वाक्य में सेना आदि राजा के अधीन होने के कारण ही राजा को अद्वितीय कहा है, इससे सेना आदि का स्वरूपतः या विजयहेतुता का निषेध नहीं किया गया। श्रुति-कथित ऊर्णनाभि (मकड़ी) के दृष्टान्त से भी अभिन्न-निमित्त-उपादानकारण का समर्थन नहीं किया जा सकता, क्योंकि ऊर्णनाभि के नष्ट हो जाने पर भी जाले का विनाश नहीं होता। इससे स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि मकड़ी जाले का उपादानकारण नहीं किन्तु केवल निमित्तकारण मात्र है। अतः सर्वज्ञ सर्वसमर्थ चेतन ही ईश्वर है और वह ईश्वर केवल निमित्तकारण मात्र ही है, उपादान-कारण तो प्रकृति ही है। ऐसा ही योगशास्त्र ने भी माना है।

न्याय-मत—न्यायशास्त्र में भी नित्यज्ञान-इच्छा-प्रयत्नवाले सर्वज्ञ सर्वसमर्थ तत्त्व को ही ईश्वर कहा है, और उस ईश्वर को केवल निमित्तकारण ही माना है। उपादानकारण के रूप में प्रकृति की जगह परमाणुओं को स्वीकार किया है, केवल इतना ही अन्तर है। ऐसा ही वैशेषिकशास्त्र ने भी माना है।

भिन्न-अभिन्न-निमित्तोपादानवादसमन्वय

ईश्वरवादियों में श्रीशङ्कराचार्यजी, श्रीरामानुजाचार्यजी, श्रीनिम्बार्काचार्यजी आदि ने अभिन्न-निमित्त-उपादानकारणता

मानी है, और श्रीमध्वाचार्यजी तथा न्याय-वैशेषिक तथा योग-शास्त्र ने भिन्न-निमित्त-उपादानकारणता मानी है। वस्तुस्थिति पर दृष्टि रखकर निष्पक्ष तटस्थ दृष्टि से विचार किया जाय तो वस्तुतः सभी ने भिन्न-निमित्त-उपादानकारणता ही मानी है। कारण कि श्रीशङ्कराचार्यजी ने माया को मिथ्या और चेतन को सत्य माना है, अतः परस्पर विरुद्ध स्वभाववाले इन दोनों का अभेद होना किसी प्रकार भी संभव नहीं। एवं श्रीरामानुजाचार्यजी और श्रीनिम्बार्काचार्यजी आदि ने प्रकृति को परिणामी विकारी और ईश्वर को अपरिणामी अविकारी माना है, इसलिए परस्पर विरुद्ध स्वभाववाले इन दोनों का इनके यहाँ भी अभेद होना संभव नहीं।

मिथ्या माया और सत्य चेतन का अभेद संभव न होने पर भी श्रीशङ्कराचार्यजी ने अधिष्ठान चेतन ब्रह्म के बिना मिथ्या माया की पृथक् सत्ता सिद्ध न होने के कारण ही उपचार मात्र से अभेद माना है। एवं श्रीरामानुजाचार्यजी, श्रीनिम्बार्काचार्यजी आदि ने ईश्वर के बिना सत्य प्रकृति की स्वतन्त्र स्थिति-प्रवृत्ति की अनर्हता (अयोग्यता) के कारण ही गौणरूप से अभेद का कथन किया है। वस्तुतः, स्वरूपतः तथा लक्षणतः तो सभी के मत में दोनों भिन्न ही हैं। अतः श्रीमध्वाचार्यजी ने बहुत ही ठीक कहा है कि प्रकृति सदा ईश्वर के अधीन होने के कारण ही श्रुतियों में क्वचित् अभिन्न-निमित्त-उपादानता का कथन किया गया है। यह रहस्य हृदयङ्गम हो जाने पर 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्' यह सब ब्रह्म ही है, इस श्रुति का अर्थ भी हृदयङ्गम हो जायगा।

'ब्रह्मैवेदं सर्वम्' इस श्रुति का उक्त रीति से अर्थ न करके यदि सीधे ही यह अर्थ किया जाय कि 'यह सब ब्रह्म ही है, ब्रह्म से अतिरिक्त कुछ भी नहीं' तो यह प्रश्न उठता है कि क्या घटादि के नाश से ब्रह्म का विनाश हो जाता है ? यदि नहीं होता तो कहना होगा कि घटादि ब्रह्म नहीं। ऐसी दशा में घटादि सभी को ब्रह्म कहनेवाली श्रुति का क्या तात्पर्य है ? इस प्रश्न पर विचार करना ही होगा। इस प्रश्न का उत्तर श्रीशङ्कराचार्यजी के मत में यह है कि अधिष्ठान से पृथक् अध्यस्त पदार्थ की सत्ता न होने के कारण ही घटादि जड़ पदार्थों को चेतन ब्रह्मरूप कहा है, इसीको पारिभाषिक शब्दों में बाधसमानाधिकरणरूप एकता कहते हैं। देखिए शाङ्करभाष्य—**'सर्वं ब्रह्मेति तु समानाधिकरणं प्रपञ्च-प्रविलापनार्थं (बाधनार्थम्)'** (ब्रह्मसूत्र, १ । ३ । १) अर्थात् सब ब्रह्म है ऐसा समानाधिकरण तो प्रपञ्च को बाध करने के लिए है।

एवं श्रीरामानुजाचार्यजी, श्रीनिम्बार्काचार्यजी आदि के मतों में भी घट आदि कार्यरूप जगत की ईश्वर के बिना स्वतन्त्र स्थिति-प्रवृत्ति न हो सकने के कारण ही घट आदि सभी जड़ पदार्थों को चेतन ब्रह्मरूप कहा है, यह उत्तर दिया जाता है। ऐसा उत्तर देने का एकमात्र कारण यही है कि परस्पर विरुद्ध स्वभाव होने के कारण सत्य-असत्य (मिथ्या) तथा परिणामी-अपरिणामी पदार्थों की मुख्य एकता किसी प्रकार संभव नहीं। प्रकारान्तर से यह भी उत्तर दिया जा सकता है कि संकल्पजन्य पदार्थ संकल्प के न रहने पर नहीं रहता, इसलिए वह पदार्थ

संकल्प से भिन्न नहीं होता। एवं संकल्प संकल्पवान् के न रहने पर नहीं रहता इसलिए संकल्प संकल्पवान् से भिन्न नहीं होता। इस प्रक्रिया से संकल्पजन्य पदार्थ संकल्पवान् से भिन्न नहीं, संकल्पवान् ही पदार्थों के रूप में प्रकट है। घट आदि कार्यरूप जगत भी ईश्वर के संकल्प से जन्य है, इसलिए घट आदि सभी पदार्थ ईश्वररूप ही हैं ईश्वर से भिन्न नहीं।

श्रीशङ्कराचार्यजी तथा श्रीरामानुजाचार्यजी आदि द्वारा प्रतिपादित अभिन्न-निमित्त-उपादानकारणता एक-सी ही है, केवल प्रकृति की सत्यता तथा असत्यता का ही विवाद है। इस विवाद का भी कारण यह है कि श्रीशङ्कराचार्यजी ने मूलकारण की ओर से विचार करते हुए ब्रह्म को निर्विशेष माना है और कार्य की ओर से विचार करते हुए जगत को मिथ्या माना है। निर्विशेष ब्रह्म से मिथ्या जगत की उत्पत्ति का समर्थन प्रकृति को असत्य (मिथ्या) माने बिना संभव नहीं, इसलिए प्रकृति को मिथ्या माना है। श्रीनिम्बार्काचार्यजी, श्रीरामानुजाचार्यजी आदि ने मूलकारण की ओर से विचार करते हुए ब्रह्म को सविशेष माना है और कार्य की ओर से विचार करते हुए जगत को सत्य ही माना है। सत्य जगत की उत्पत्ति उपादानभूता प्रकृति को सत्य माने बिना संभव नहीं, इसलिए प्रकृति को सत्य माना है। परपक्ष-खण्डनपूर्वक **परिशेषन्याय** से अन्त में सभी स्वपक्ष का मण्डन कर लेते हैं, यह सब पूर्व में विस्तार से दिखाया ही जा चुका है।

प्रकृति की सत्यता-असत्यता तथा चेतन के साथ प्रकृति के सम्बन्ध में मतभेद होने के कारण ही ईश्वर के स्वरूप-प्रतिपादन में भी अन्तर हुआ है। श्रीशङ्कराचार्यजी को प्रकृति (माया), तथा माया का चेतन से सम्बन्ध, दोनों मिथ्या मान्य होने से, मिथ्या-मायाविशिष्ट चेतन को ही ईश्वर का स्वरूप माना है। श्रीरामानुजाचार्यजी आदि ने प्रकृति, तथा चेतन के साथ प्रकृति के सम्बन्ध को भी सत्य माना है, इसलिए वे सत्य-प्रकृतिविशिष्ट चेतन को ही ईश्वर का स्वरूप कहते हैं। जड़ जगत की उपादान-कारण जड़ प्रकृति को किसी तरह चेतन ईश्वर के स्वरूप में प्रवेश कराके ही अभिन्न-निमित्त-उपादानकारणता का कथन किया गया है। वस्तुस्थिति से जड़-चेतन भिन्न होने के कारण सभी के यहाँ भिन्न-निमित्त-उपादानकारणता ही सिद्ध होती है। क्योंकि जैसे जड़ से चेतन की उत्पत्ति होना सर्वथा असंभव है, वैसे ही चेतन से जड़ की उत्पत्ति होना भी सर्वथा असंभव है। अत: जड़ जगत का उपादान जड़ ही होगा और निमित्त कारण चेतन होगा।

——

जगत-कारणवाद का उपसंहार

बुद्धि का सामर्थ्य—वास्तविक बात तो यह है कि पिण्ड तथा ब्रह्माण्ड की महत्ता, विशालता, विचित्रता इतनी विलक्षण है कि किसी अति बुद्धिमान् विश्वमान्य मानव की बुद्धि भी उसके समक्ष अति तुच्छ है। इतना ही नहीं किन्तु एक क्षेत्र (विषय) के अति मर्मज्ञ विश्वमान्य मानव द्वारा उसी क्षेत्र के किसी अज्ञात पदार्थ के बारे में भी स्व-ज्ञात-नियमों के आधार पर अनुमान द्वारा जो कुछ निर्णय दिया जाता है 'वह सर्वथा सत्य ही होगा' ऐसा दृढ़तापूर्वक नहीं कहा जा सकता। इसे एक उदाहरण से समझाते हैं।—

जिस देश में थूहर, गिलोय या इनके समान जातिवाली वनस्पतियाँ उत्पन्न नहीं होतीं, उस देश का वनस्पति-विज्ञान का महान् मर्मज्ञ मानव अपने प्रयोगों के आधार पर ज्ञात-नियमों द्वारा यह निर्णय दे कि 'कोई भी वनस्पति छिन्नमूला होकर धूप में सूखकर पुनः अङ्कुर का उत्पादन नहीं कर सकती।' उसका यह निर्णय भ्रान्त ही होगा, क्योंकि भारतनिवासी पशु-पालक मानव को भी थूहर आदि का छिन्नमूल तथा धूप में सूख-कर भी अङ्कुर उत्पादन करना प्रत्यक्ष प्रमाण से दृष्ट है। ऐसी दशा में अन्य क्षेत्र का विशेषज्ञ अन्य क्षेत्र के या अलौकिक क्षेत्र

के बारे में जो निर्णय देगा उसके भ्रान्त होने में तो कोई सन्देह ही नहीं। जैसे, यदि एक रसायनशास्त्र का विशेषज्ञ यह निर्णय दे कि 'लाखों मील दूर के शब्दों का श्रवण होना या लाखों मील दूर कमरों में बन्द रूपों का दर्शन होना सम्भव नहीं, अथवा मन्त्रों से विष का दूर होना अथवा योगी, देवता, ईश्वर की भी इच्छा मात्र से भौतिक पदार्थों के गुण-स्वभाव का बदलना सम्भव नहीं, तो यह उसका निर्णय सर्वथा भ्रान्त ही होगा।

'मेरी बुद्धि के निर्णय से सर्वथा विरुद्ध होने के कारण उक्त बातें सर्वथा गलत ही हैं, मैं रसायनशास्त्र का विश्वमान्य विशेषज्ञ हूँ, ऐसे कैसे मान लूँगा, बिना विचारे मान लेना मूर्खों का काम है, मैं मूर्ख नहीं।' इत्यादि रूप में अपनी बुद्धिमत्ता तथा विशेषज्ञता की डींग हाँकनेवाले व्यक्तियों को जब उस क्षेत्र के अल्पज्ञ व्यक्तियों द्वारा भी प्रकट किये गये क्षुद्र-कार्यरूप चमत्कार का प्रत्यक्ष अनुभव होता है और अपनी बुद्धिमत्ता तथा रसायनशास्त्र की विशेषज्ञता का पूरा उपयोग कर लेने पर जब कुछ भी नहीं समझ पाते तब उनका सारा अभिमान धूल-समान हो जाता है और ऊपर कथित डींग का हाँकना सदा के लिए त्याग देते हैं। इस बात को स्पष्ट करने के लिए २-४ स्वानुभूत घटनाओं को यहाँ लिखा जा रहा है।—

राजस्थान में 'सती माँ' के नाम से प्रसिद्ध एक महिला हैं। उन्होंने ३५ वर्ष से अन्न-जल कुछ भी ग्रहण नहीं किया, फिर भी स्वस्थ महिला की भाँति सब कार्य करती हैं। हजारों मनुष्यों

ने तथा डॉक्टरों ने वर्षों उनकी परीक्षा की है। इन सती माँ को अपने नेत्रों से देखकर शरीर-विज्ञान के सभी नियमों तथा यन्त्रों का प्रयोग करके भी जब कुछ भी रहस्य नहीं समझ पाते तब उन्नत-शरीर-विज्ञान के विश्वविख्यात विशेषज्ञों को अपने अभिमान को धूल-समान करके निरभिमान भाव से अपने विज्ञान की तथा अपनी बुद्धि की अल्पता-तुच्छता को स्वीकार करना ही पड़ता है। एवं स्वद्वारा मृत घोषित सर्प-दंशित (काटे) व्यक्ति को पशुपालजैसे निम्न कोटि के व्यक्ति द्वारा किये गये मन्त्रप्रयोग से पुनः जीवित होते देखकर स्व-विज्ञान तथा स्व-बुद्धि की अल्प सामर्थ्य को नतमस्तक होकर मानना ही पड़ता है।

भारतवर्ष के ग्रामों तथा नगरों में सर्वत्र भ्रमण करनेवाले अदृष्ट-शक्ति-आविष्ट बैलों तथा कुत्तों–जैसे पशुओं द्वारा हाथ में छिपाई गयी वस्तुओं को पूछने पर बता देना, तथा प्रेतात्माओं या दैवी शक्तियों द्वारा अति अल्पकाल में लाखों मील दूर के स्थूल पदार्थों को बन्द कमरे में ला देना आदि चमत्कारों को नेत्रों से प्रत्यक्ष अनुभव करके किस बुद्धिमान् का अभिमान धूल-समान नहीं हो जाता ? यदि किसीका नहीं होता तो बुद्धिमान् विद्वान् उसे महाबुद्धिमान् (मूर्ख) की ही उपाधि प्रदान करते हैं। इन सब दृष्टान्तों का विस्तार से प्रतिपादन करने में मेरा इतना ही अभिप्राय है कि लौकिक तुच्छ क्षेत्रों में भी बुद्धिमान् विश्वमान्य विज्ञान-विशेषज्ञों की बुद्धि की क्षमता (सामर्थ्य) का यह हाल है तो सर्वथा

अलौकिक अचिन्त्य ईश्वर को अपनी अल्प बुद्धि के तर्कों से समझने का प्रयास करना, तथा समझ में न आने पर ईश्वर को न मानना सर्वथा ही बालकपना है। इसीलिए मनीषी ऋषियों ने कहा है—

अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण साधयेत्।
प्रकृतिभ्यः परं यत्तु तदचिन्त्यस्य लक्षणम्॥
(महा० भीष्म०, ५।१२)

जो पदार्थ अचिन्त्य हैं उन्हें तर्क की कसौटी पर न कसे। प्रकृति से परे जो पदार्थ हैं उन्हें अचिन्त्य जानो।

सविनय निवेदन

हमारा तात्पर्य यह नहीं कि मनुष्य बिना विचार किये अन्ध-विश्वासी बनकर सदा-सर्वत्र सब कुछ मान लिया करे। संसार में किसी भी कार्य की सफलता या ज्ञान का महान् साधन मनुष्य के पास बुद्धि ही है, इसलिए उसका उपयोग अवश्य करना चाहिए। परन्तु उस बुद्धि की अल्प-शक्तिमत्ता को तथा अनुभव-क्षेत्रों की अल्पता को एवं ब्रह्माण्ड की महत्ता, विशालता, विचित्रता को भी ध्यान में रखना चाहिए। बुद्धि की सामर्थ्य (क्षमता) के बाहर सर्वथा अज्ञात क्षेत्र में दुराग्रह नहीं करना चाहिए। सर्वथा समझ में न आने पर उसे स्वीकार भले ही न करें परन्तु 'यह सर्वथा गलत ही है' ऐसा कहने का दुस्साहस तो करना ही नहीं

चाहिए। इतना निवेदन कर देने पर भी जो लोग वैसा कहते हैं, मेरे विचार से वे लोग भले ही चाहे दर्शनशास्त्रों के प्रसिद्ध विचारक साधु शान्तिनाथ या राहुल सांकृत्यायन हों या उन्नति के शिखर पर आरूढ़ आधुनिक विज्ञान के विश्वमान्य विशेषज्ञ हों, उनके बारे में कहना ही होगा कि इन महाबुद्धिमानों को मन्त्रों द्वारा बिच्छू का जहर उतरना-जैसा तुच्छ चमत्कार भी देखने को नहीं मिला। अन्यथा शास्त्रों को अन्धविश्वासी पाखण्डियों द्वारा रचित न कहते, तथा ईश्वर आदि अलौकिक अचिन्त्य तत्त्वों को अस्वीकार न करते।

निमित्त-कारणवाद-विचार का मुमुक्षु के लिए उपयोग

पूर्वोक्त विचार द्वारा यदि मुमुक्षु ने यह निश्चय किया कि प्राणियों के द्वारा कृत कर्म ही विषम जगत-रचना के निमित्तकारण हैं, तो दुःख देनेवाले काम्य तथा निषिद्ध कर्मों का सर्वथा परित्याग करेगा, और निष्कामभाव से शास्त्रविहित कर्मों का सम्यक् आचरण करके दुःख-निवृत्तिरूप मोक्ष को प्राप्त कर लेगा। यदि मुमुक्षु ने प्राणिकृतकर्म सहकृत ईश्वर को विषम जगत-रचना का निमित्तकारण निश्चय किया तो काम्य, निषिद्ध कर्मों का त्याग तथा निष्काम कर्मों के अनुष्ठान के साथ-साथ भगवान् का आराधन भी करेगा, जिससे भगवान् की कृपा का पात्र होकर सुगमता से दुःखमय संसार-सागर को पार कर जायगा। यदि दोनों सिद्धान्तों

का समन्वय ही है विरोध नहीं, ऐसा निश्चय करेगा तो स्व-सिद्धान्त में आस्था तथा पर-सिद्धान्त का समादर भी करेगा, जिससे पर-सिद्धान्त-खण्डनरूप द्वेष से मुक्त हो जायगा।

(द्वितीय खण्ड समाप्त)

॥ हरिः ॐ तत्सत् ॥

—

ॐ

श्री गणेशाय नमः

तृतीय खण्ड

साधन-साध्य (मोक्ष) वाद

अखण्डानन्दबोधाय शिष्यसन्तापहारिणे।
सच्चिदानन्दरूपाय रामाय गुरवे नमः॥

उपक्रम—पूर्वोक्त दो खण्डों में आत्मवाद तथा जगत-कारणवाद इन दो विषयों पर विचार किया गया। इन दोनों विषयों पर विचार जिस दुःख-विमुक्तिरूप मोक्ष (साध्य) के लिए किया गया है, उस मोक्षरूप साध्य के तथा मोक्ष-साधनों के बारे में वादियों के विवादों को संक्षेप में प्रदर्शन करके उनमें भी वस्तुस्थिति पर दृष्टि रखकर किस प्रकार समन्वय हो जाता है, इसका दिग्दर्शन कराया जायगा।

वस्तुस्थिति पर दृष्टि रखकर विचार न करने के कारण तथा वादियों के शाब्दिक एवं शुष्क तर्कों पर अधिक दृष्टि रखने के कारण साधु शान्तिनाथ ने दर्शन-शास्त्रों को भ्रान्त-धूर्त-मूर्ख-पाखण्डियों द्वारा रचित बताया है। इसीलिए शास्त्रप्रतिपादित साध्य-साधनों को भी मिथ्या कहकर उनके अनुसार जीवन-संचालन

को भी व्यर्थ कहा है। पूर्वपक्ष के रूप में साध्य-साधनों का खण्डन संक्षेप में उनके ग्रन्थ के आधार पर प्रथम प्रदर्शित किया जायगा। तदनन्तर उत्तरपक्ष के रूप में साध्य-साधनों का मण्डन प्रदर्शन करके उनमें समन्वय का दिग्दर्शन कराया जायगा। पूर्वपक्ष का विस्तार तो साधु शान्तिनाथ कृत 'प्राच्य-दर्शन-समीक्षा' नामक ग्रन्थ में देखना चाहिए।

—·—

साधन-साध्य-वादों का खण्डन

पूर्वपक्ष—भिन्न-भिन्न दर्शनों में जितने साधनों का निरूपण किया गया है, उन सभी साधनों को कर्म, भक्ति, योग और ज्ञान, इन चार विभागों में विभाजित किया जा सकता है। यद्यपि भिन्न-भिन्न दर्शनों में कर्म-भक्ति-योग-ज्ञान इन चारों साधनों के स्वरूपों में भी मतभेद हैं, तथापि सामान्यरूप से उन चारों का खण्डन कर देने से ही उनके विशेष रूपों का भी खण्डन हो जायगा, इसलिए संक्षेप में उन चारों का खण्डन किया जा रहा है।

कर्मयोग का खण्डन—कर्म द्वारा कर्म-बन्धन का सर्वथा नाश करना संभव नहीं, क्योंकि महान् प्रयत्न करके यदि कोई अशुभ कर्मों का तथा काम्य कर्मों का परित्याग कर दे तो भी नित्य-नैमित्तिक तथा जीवन-निर्वाहक कर्मों के आनुषङ्गिक रूप से अशुभ कर्म होंगे ही। एवं अनन्त जन्मों के अनन्त कर्मों का भी

फलभोग के बिना विनाश होना संभव नहीं, तथा उनके फलभोग-काल में पुनः नये कर्मों का होना भी अनिवार्य है। एवं कर्ता आत्मा अपनी कर्म करने की योग्यतारूप कर्तृत्व का सर्वथा विनाश कर दे, और कभी भी कर्म न करे यह भी संभव नहीं। सर्वदेशों में, सर्वकालों में, सर्वशास्त्रों में बन्ध-मोक्षप्रद कर्मों की व्यवस्था एक रूप में व्यवस्थित न होने के कारण कौन-कौन कर्म बन्ध-मोक्षप्रद हैं, यह भी निर्णय नहीं किया जा सकता। इन सभी कारणों से कर्म द्वारा कर्म-बन्धन का सर्वथा विनाश होना संभव नहीं, अतः कर्मयोग को मोक्ष का साधन मानना सर्वथा ही अन्धविश्वास है।

भक्तियोग का खण्डन—व्यापक निराकार ईश्वर का ध्यान मन का सामर्थ्य सीमित होने के कारण किया नहीं जा सकता। साकार ईश्वर का सम्प्रदाय तथा रुचि-भेद से नाना रूपों में वर्णन मिलता है, उन नाना रूपों को तात्त्विक नहीं कहा जा सकता। कारण कि तात्त्विक रूप तो एक रूप ही हो सकता है, नानारूपता तो तात्त्विकरूपता के विरुद्ध है। ध्यानावस्था में गाढ़ता होने पर मनःकल्पित रूप का ही दर्शन होता है, सत्यवस्तु का दर्शन नहीं होता, अन्यथा सभी भक्तों के दर्शनों को यथार्थ मानना होगा। भक्तों को अनेक रूपों में ही नहीं किन्तु परस्पर विरुद्ध रूपों में भी दर्शन होते हैं, इसलिए उन सभी रूपों को तथा उनके दर्शनों को यथार्थ नहीं कहा जा सकता। इन सब कारणों से भक्तियोग भी यथार्थ भगवद्दर्शन द्वारा मोक्ष का साधन नहीं हो सकता।

पातञ्जलयोग का खण्डन—प्रत्याहार तथा धारणा में जिस

वस्तु का आलम्बन लिया जाता है, वही वस्तु ध्यान में स्पष्ट और सविकल्प-समाधि में अतिस्पष्ट प्रतीत होती है। निर्विकल्प-समाधि में तो किसी भी विशेष वस्तु का स्पष्ट या अतिस्पष्ट रूप में अनुभव नहीं होता। निर्विकल्प-समाधि से पुनः सविकल्प-समाधि में आने पर पूर्वप्रतीत हुई वस्तु पुनः अतिस्पष्ट रूप में प्रतीत होने लगती है, और इस सविकल्प-समाधि से उत्थान होकर जाग्रत्-अवस्था में आने पर संस्कार की प्रबलता के कारण उसी वस्तु का अतिस्पष्ट असन्दिग्ध रूप में स्मरण होता है। इन सब कारणों से योगी को ऐसा भ्रम होता है कि निर्विकल्प-समाधि में मुझे तात्त्विक वस्तु का साक्षात्कार हुआ है। वस्तुतः योग-साधना द्वारा भी भक्ति-साधना की तरह मनःकल्पित वस्तु की ही प्रतीति होती है, तात्त्विक वस्तु का यथार्थ अनुभव नहीं होता। अन्यथा सभी सम्प्रदाय के योगियों को एक रूप में ही वस्तु का साक्षात्कार होता। इन सब कारणों से पातञ्जलयोग भी तात्त्विक-वस्तु-दर्शन-पूर्वक मोक्ष का साधन नहीं हो सकता।

ज्ञानयोग का खण्डन—आत्मा तथा परमात्मा के स्वरूप का सन्देहरहित यथार्थ रूप में निर्णय नहीं हो सकता। कारण कि दर्शनकारों ने प्रबल युक्तियों द्वारा एक-दूसरे द्वारा प्रतिपादित आत्मा तथा परमात्मा के स्वरूप का खण्डन किया है। ऐसी दशा में आत्मा तथा परमात्मा का यथार्थ ज्ञान होना तो किसी प्रकार भी संभव नहीं, अयथार्थ ज्ञान से मोक्ष का होना तो ज्ञान से मोक्ष माननेवालों को भी स्वीकार नहीं। अतः ज्ञानयोग भी मोक्ष का साधन नहीं हो सकता।

मोक्ष-स्वरूप-खण्डन—मोक्ष के साधनों की भाँति मोक्ष के स्वरूप में भी वादियों के विविध विवाद हैं। बौद्धों ने विज्ञान के निर्वाण को, जैनियों ने नित्य-आत्मसुख की प्राप्ति, अलोकाकाशगमन, सिद्ध-शिला-आरोहण को, वैष्णवों ने विविध रूपों में भगवद्विग्रह अथवा भगवद्धामों की प्राप्ति को, नैयायिकों ने इक्कीस दुःखों के ध्वंस को, योगियों तथा सांख्यों ने प्रकृति-पुरुष-विवेक द्वारा आत्मा के स्वरूप-अवस्थान को, वेदान्तियों ने दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति तथा परमानन्द की प्राप्ति को मोक्ष का स्वरूप माना है। इतना ही नहीं, किन्तु इन वादियों ने परस्पर एक-दूसरे के मोक्षस्वरूप का खण्डन भी किया है। यदि मोक्ष का कोई यथार्थ स्वरूप होता तो सभी वादियों को वह उसी रूप में मान्य होता तथा साधकों को वह मोक्ष उसी यथार्थ एक रूप में अनुभव में आता। इन सब कारणों से मोक्ष के स्वरूप का भी खण्डन हो जाता है।

लौकिक कर्तव्य-विचार—उक्त प्रकार से मोक्ष और मोक्ष-साधनों का खण्डन हो जाने के कारण मोक्ष को लक्ष्य (साध्य) बनाकर, कर्मयोग, भक्तियोग, पातञ्जलयोग, ज्ञानयोग रूप मोक्ष-साधनों को अपनाकर सारा जीवन-यापन करना बुद्धिमानों का नहीं, किन्तु बुद्धिहीनों का ही काम है। अतः परिशेषतः तथा दृष्ट-फलप्रद होने के कारण प्रत्यक्षतः भी ऐहिक सुख-प्राप्तिपूर्वक देश-उपकारक कर्मों का करना ही मनुष्य का कर्तव्य है।

इस कर्तव्य के पालन में तीन प्रकार के दुःख मुख्यरूप से बाधक होते हैं—१. प्रकृति के अज्ञात तथा अनिवार्य नियमों द्वारा

होनेवाले भूचाल, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, महामारी आदि जन्य दुःख बाधक होते हैं। इन दुःखों से तो सर्वथा मुक्त हुआ नहीं जा सकता, कारण कि इनके नियम पूर्णतः मनुष्य को ज्ञात नहीं। जिनके कुछ नियम ज्ञात हैं उनको भी निवारण करने में मनुष्य पूर्ण समर्थ नहीं। २. राजनीति, समाजनीति और परिवारनीति की प्रतिकूलता-जन्य दुःख भी बाधक होते हैं। इन दुःखों का परिहार संगठन द्वारा राजनीति आदि को अनुकूल बनाकर किया जा सकता है। ३. अपनी बौद्धिक अज्ञानता तथा मानसिक निर्बलता से होनेवाले दुःख भी बाधक होते हैं। परिस्थितियों तथा विशेषज्ञान-सम्पन्न व्यक्तियों से बौद्धिक ज्ञान-सम्पादन करके अज्ञानजन्य दुःखों का निराकरण किया जा सकता है। 'परिस्थितियों का प्रभाव शरीर-इन्द्रियों आदि पर ही पड़ता है आत्मा पर नहीं' इस प्रबोध द्वारा अपनी मानसिक निर्बलता को दूर करके मानसिक निर्बलता-जन्य दुःखों का परिहार किया जा सकता है। ईश्वर-प्रार्थना से तात्कालिक शान्ति ही होती है, उससे मानसिक निर्बलता का पूर्ण निवारण नहीं होता, इसलिए ईश्वर-प्रार्थना का सहारा लेना ठीक नहीं। रोग आदि जन्य दुःख गौण हैं, इसलिए उनका कथन नहीं किया गया। इस प्रकार यथासम्भव दुःखों का परिहार करते हुए तथा दृष्ट सुखों का उपभोग करते हुए देश-हितकारी कर्मों में जीवन-यापन करना ही विचारशील मनुष्यों का परम कर्तव्य है।

साधन-साध्य-वादों का मण्डन

उत्तरपक्ष—'असम्यक् कर्मों से, असम्यक् भावों से, असम्यक् विचारों (ज्ञानों) से दुःख की प्राप्ति होती है' यह बात सार्वजनीन अनुभवों से निर्विवाद सिद्ध है। इन कर्म, भाव, ज्ञान को ही शास्त्र-कारों ने अतिसूक्ष्म गवेषणा द्वारा सम्यक् परिष्कार करके कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग नामों से कथन किया है। मानसिक (भावात्मक) साधना की प्रधानता होने के कारण पातञ्जलयोग भी भक्तियोग के अन्तर्गत हो जाता है, इसलिए उसकी गणना पृथक् नहीं की गयी।

विचार करने के दृष्टि-कोण में भेद होने के कारण, तथा अधिकारियों की योग्यता और संस्कारों में भेद होने के कारण सभी दर्शनकारों ने स्व-साधन को मुख्यरूप से और अन्य-साधनों को गौणरूप से स्वीकार किया है। अनादि संसार में असम्यक् ज्ञान, असम्यक् भाव, असम्यक् कर्म, ये तीनों परस्पर सम्बन्धित हैं, तथा तीनों दुःख के कारण हैं, इसलिए सभी दर्शनकारों ने इन तीनों का निवारण करने के लिए क्रमशः ज्ञानयोग, भक्तियोग, कर्मयोग इन तीनों को साधन रूप से स्वीकार किया है। केवल किसी एक साधन को मुख्यता, अन्य दो साधनों को गौणता दी है, अतः सभी को तीनों साधन मान्य होने के कारण समन्वय भी सहज ही दिखाया जा सकता है। पहले साधन-साध्य-वादों का मण्डन करके बाद में समन्वय दिखाया जायगा।

कर्मयोग का मण्डन—'जन्मान्तरीय कर्मों के बिना शरीर नहीं मिल सकता, शरीर के बिना कर्म करने का संकल्प (भाव) नहीं हो सकता, शरीरादि अनात्मवर्ग से पृथक् आत्मा के ज्ञान के बिना अलौकिक फल-दायक कर्मों में प्रवृत्ति नहीं हो सकती।' इस दृष्टि-कोण से जिन दर्शनकारों ने विचार किया है, उन्होंने कर्म को ही दुःखों का मुख्य हेतु माना है। इस दृष्टि-कोण से जब कोई भी देखेगा तब यह नहीं कह सकेगा कि 'कर्मयोग द्वारा कर्म-बन्धन का नाश नहीं किया जा सकता।'

इस दृष्टि-कोण में यह शङ्का होती है कि 'ज्ञान के बाद ही कर्म करने का संकल्प होता है, संकल्प के बाद ही कर्म किया जाता है' अतः कर्मयोगवादियों का कर्म को 'प्रथम' मानना ठीक नहीं। इस शङ्का का उत्तर यह है कि कर्म, संकल्प (भाव), ज्ञान ये तीनों प्रवाहरूप से अनादि तथा परस्पर सम्बन्धित हैं, इसलिए अनादि संसार में इन तीनों में से किसीको प्रथम नहीं कहा जा सकता। कर्मयोगवादियों ने भी कर्म को 'प्रथम' नहीं कहा, किन्तु कर्मजन्य शरीर के बिना ज्ञान, संकल्प न हो सकने के कारण कर्म को ही मुख्य हेतु माना है।

शास्त्रविहित निष्काम नित्य-नैमित्तिक कर्मों के अनुष्ठान-काल में आनुषङ्गिक रूप से होनेवाले अशुभ कर्म दुःखरूप बन्धन उत्पन्न करने में वैसे ही असमर्थ होते हैं, जैसे प्रज्वलित दीप से आनुषङ्गिक रूप में उत्पन्न होनेवाला धूम अन्धकार उत्पन्न करने में असमर्थ होता है। शास्त्र-प्रमाण के अनुसार जैसे निषिद्ध तथा

काम्य कर्मों में बन्धन-हेतुता सिद्ध होती है, वैसे ही शास्त्र-प्रमाण द्वारा सामान्य तथा विशेष प्रायश्चित्त कर्मों के अनुष्ठान से अनन्त जन्मों के अनन्त कर्मों का विनाश हो जाना भी सिद्ध होता है।

'मैं कर्ता हूँ' इस अनुभव से, तथा जड़ अनात्मा में कर्तृत्व सम्भव न होने से भी आत्मा को ही कर्मों का कर्ता मानना उचित है। बन्धनकारक कर्मों के कर्ता आत्मा का बन्धननाशक कर्मों के द्वारा ही मोक्ष हो सकता है, अन्य साधनों से नहीं हो सकता। इस प्रकार आत्मदृष्टि से विचार करें तो भी कर्मयोग को ही मोक्ष का साधन मानना चाहिए। कर्ता आत्मा का शरीर आदि सहयोगी सामग्री के अभाव होने पर कर्म करने की योग्यता रहते हुए भी, कभी भी कर्म न करना वैसे ही सम्भव है, जैसे दाहकर्ता अग्नि का दाह्य काष्ठादि के अभाव होने पर दहन करने की योग्यता रहते हुए भी, कभी भी दहन न करना सम्भव है।

वेदों की अनादिता, अपौरुषेयता—सर्वदेशों के, सर्वकालों के, सर्वसम्प्रदायों के सभी मनुष्यों को विचित्र रूप में सुख-दुःखों का भोग करना पड़ रहा है। इसकी समुचित संगति दृष्ट कारण मात्र मे ही नहीं लगायी जा सकती, क्योंकि युगपत् (एक साथ) अनेक सन्तानों की उत्पत्ति-स्थल में दृष्ट कारणों के समान होने पर भी सभी सन्तानों के शरीरों, मनोभावों, बुद्धियों और सुख-दुःख के भोगों में इतनी अधिक विचित्रता पायी जाती है कि जिसकी सङ्गति के लिए न चाहते

हुए भी जन्मान्तरीय कर्मों को स्वीकार करना ही पड़ता है। इस प्रकार शरीर के कारणरूप से तथा विचित्रता के कारणरूप से सामान्यतः कर्मों की हेतुता प्रथम सिद्ध की जाती है। तत्पश्चात् किस कर्म की किस फल में हेतुता है, इसकी विशेषरूप में समुचित व्यवस्था अनादि अपौरुषेय स्वतःप्रमाण वेदों द्वारा सिद्ध की जाती है। शास्त्रीय दृष्टि से वेदों की अनादिता, अपौरुषेयता और स्वतःप्रमाणता को समझने के लिए पूज्यपाद श्रीकरपात्रीजी द्वारा लिखित 'वेद-स्वरूप-विमर्श' 'वेदों का स्वरूप और प्रामाण्य' नामक ग्रन्थों का अध्ययन, मनन और परिशीलन करना चाहिए।

लौकिक दृष्टि से युक्तिपूर्वक समझने के लिए यह कहा जा सकता है कि जैसे भौतिकविज्ञान के नियम अनादि ही हैं, भौतिक वैज्ञानिकों ने उन्हें बनाया नहीं, किन्तु प्रयोगों द्वारा उनका साक्षात्कार मात्र किया है। वैसे ही धर्माधर्म-व्यवस्था भी अनादि ही है, मन्त्रद्रष्टा ऋषियों ने उसे बनाया नहीं, किन्तु उन्हें उसका साक्षात्कारमात्र ही हुआ है। संसार की उत्पत्ति तथा प्रलय न माननेवाले मीमांसक ही धर्माधर्म-व्यवस्था को अनादि मानते हों ऐसी बात नहीं, किन्तु सृष्टि-प्रलय माननेवाले भी मानते हैं और सभी को मानना ही चाहिए। इसका कारण यह है कि यदि पूर्व सृष्टि में धर्माधर्म-व्यवस्था दूसरी हो तो उसमें उत्पन्न प्राणियों द्वारा किये गये कर्मों के अनुसार इस सृष्टि में उनके फलभोग की व्यवस्था न हो सकेगी। ऐसी दशा में अकृत-अभ्यागम, कृत-विप्रणाश दोष की प्राप्ति होगी, अर्थात् जो नहीं किया उसका फल-

भोग करना पड़ता है और जो किया था उसका फलभोग बिना ही नाश हो जाता है, ऐसा मानना होगा, जो कि किसीको भी अभीष्ट नहीं। अतः धर्माधर्म-व्यवस्थारूप वेदों को अनादि अतएव अपौरुषेय मानना ही चाहिए।

अनादि वेदों द्वारा बन्ध-मोक्षप्रद कर्मों की समुचित व्यवस्था हो जाने पर 'कौन कर्म बन्ध-मोक्षप्रद है' यह संशय समाप्त हो जायगा। भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों में वैदिक कर्म-व्यवस्था का लोप होकर या विकृति होकर बन्ध-मोक्षप्रद कर्मों में अव्यवस्था का जो सन्देह उत्पन्न हो गया है, उस सन्देह मात्र से वैदिक बन्ध-मोक्षप्रद कर्मों की व्यवस्था परिसमाप्त नहीं हो सकती। 'वैदिक व्यवस्था ही मूल व्यवस्था है इस बात में ही क्या प्रमाण है ?' इस शंका का समाधान यह है कि 'इस्लाम, बाइबिल, जैन, बौद्ध आदि की व्यवस्थाएँ अमुक काल से ही हैं, उसके पूर्व नहीं थीं' ऐसा तो वे लोग भी स्वीकार करते ही हैं। अब यह प्रश्न होता है कि उसके पूर्व कौन-सी व्यवस्था थी ? इस प्रश्न के उत्तर में आधुनिक पुरातत्त्व-अन्वेषण की दृष्टि से भी यही कहना होगा कि 'वैदिक व्यवस्था ही थी'। इसका कारण यह है कि आधुनिक पुरातत्त्व-अन्वेषण-विभाग द्वारा भी यह सिद्ध हो चुका है कि 'वेद ही सबसे प्राचीन धर्मग्रन्थ हैं'। पुस्तकालयों में भी हस्तलिखित प्राचीन ग्रन्थों में सबसे प्राचीन वेदों की ही प्रतियाँ पायी जाती हैं। वेदों को अनादि अपौरुषेय दृष्टि से देखने पर तो कोई शंका हो ही नहीं सकती।

जैसे सिन्ध देश में पाकिस्तान बनने से पूर्व या मुसलमानों के आने से पूर्व वैदिक कर्म-व्यवस्था ही थी, इसमें किसीको सन्देह नहीं। इस समय उस वैदिक कर्म-व्यवस्था का वहाँ लोप या लोप-प्राय हो जाने पर भी 'पूर्वकाल में वहाँ वैदिक कर्म-व्यवस्था नहीं थी' यह नहीं कहा जा सकता। वैसे ही जिन देशों में वैदिक कर्म-व्यवस्था का लोप या लोपप्राय हो गया है, उनमें भी 'पूर्वकाल में वैदिक कर्म-व्यवस्था नहीं थी' यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि कर्म-व्यवस्थाओं में सबसे प्राचीन वैदिक कर्म-व्यवस्था ही है, इसमें किसीका भी विवाद नहीं।

वेदभिन्न सम्प्रदायवाले यदि यह कहें कि हमारी धर्माधर्म-व्यवस्था सबसे प्राचीन ही नहीं, किन्तु अनादि है, हमारे धर्माचार्यों ने तो तपस्या से उसका साक्षात्कार मात्र किया है। इस कथन में यह विचारणीय है कि उस तपस्या का क्या स्वरूप था और उस प्रकार की तपस्या द्वारा धर्माधर्म-व्यवस्था का साक्षात्कार होता है, यह नियम कैसे जाना गया ? यदि कहें कि हमारे आचार्यों से भी पूर्वकाल में प्रचलित धर्माधर्म-व्यवस्थापक शास्त्रों से जाना गया। यह उत्तर तो वैदिक धर्माधर्म-व्यवस्था को ही अनादि सिद्ध करता है, क्योंकि आपके आचार्यों से पूर्वकाल में प्राचीन होने से वैदिक धर्म ही था।

इस प्रकार कर्मयोग से मोक्ष होने में जो-जो शङ्काएँ की गयी थीं उन सबका समुचित समाधान कर दिया गया, अतः पूर्वकथित रीति से कर्मयोग मोक्ष का साधन है यह सिद्ध हो जाता है।

भक्तियोग का मण्डन—'संकल्प के बिना कर्म नहीं होता, शरीर आदि अनात्मपदार्थों से पृथक् आत्मा के ज्ञान के बिना स्वार्थभाव समाप्त नहीं होता, स्वार्थभाव रहते संकल्प (भाव) की पूर्ण शुद्धि नहीं होती' इस दृष्टि-कोण से जिन्होंने विचार किया है, उन्होंने भावशुद्धिरूप भक्तियोग को ही मोक्ष का मुख्य साधन माना है और ज्ञान तथा कर्म को सहायकरूप में गौण साधन माना है। भावशुद्धि के लिए अधिकारी-भेद से साकार या निराकार ईश्वर का भाव में सम्बन्ध कराके भक्तियोग का विधान किया है। स्थूल आलम्बन के बिना तथा स्थूल क्रियाकलाप के बिना केवल मानसिक आलम्बन तथा मानसिक क्रिया का आधार लेकर साधना करने में जो असमर्थ हैं, उनके लिए बाह्य स्थूल मूर्तियों का बाह्य स्थूल सामग्रियों से पूजारूप भक्तियोग का विधान किया है।

'व्यापक निराकार ईश्वर को अनन्त होने के कारण सीमित सामर्थ्यवाले मन का विषय नहीं बनाया जा सकता' यह बात सत्य है। इसीलिए **'यन्मनसा न मनुते'** जो मन से मनन नहीं किया जा सकता, इस श्रुति का अर्थ करते हुए कुछ आचार्यों ने स्पष्ट कहा है कि यद्यपि स्वरूपतः तथा गुणतः अनन्त होने के कारण ब्रह्म को सम्पूर्णतः कोई नहीं जान सकता। तथापि **'मनसैवानुद्रष्टव्यं'** मन के द्वारा ही देखना चाहिए, इस श्रुति में मन के द्वारा उसके दर्शन की बात कही गयी है। उसका तात्पर्य यही है कि सम्पूर्णतः नहीं किन्तु अंशतः तो मन के द्वारा जाना जा सकता ही है, इस प्रकार श्रुति-विरोध का परिहार किया है।

'ब्रह्म अंशतः ज्ञात होने पर भी वस्तुतः ज्ञात हो ही गया' यह कथन वैसे ही ठीक है जैसे अनन्त आकाश अंशतः ज्ञात होने पर भी वस्तुतः ज्ञात हो ही जाता है। कुछ आचार्यों का कहना है कि अशुद्ध मन की सामर्थ्य ही सीमित है, शुद्ध मन की सामर्थ्य तो असीम होने के कारण शुद्ध मन से व्यापक अनन्त ईश्वर का भी साक्षात्कार हो जाता है।

यद्यपि ध्यानावस्था में प्रथम तो मनःकल्पित रूप का ही साक्षात्कार होता है, तथापि बाद में तो भक्त पर कृपा करके भक्त की अभिलाषा-अनुसार उसी रूप में अन्तः या बाह्य प्रकट होकर साक्षात् ईश्वर ही दर्शन देता है। भक्तों की रुचि के अनुसार अनेक विविध रूपों में प्रकट होने पर भी उन रूपों को मनःकल्पित या मिथ्या कहने का दुस्साहस नहीं करना चाहिए, कारण कि सर्वथा मनरहित चित्रग्राहक यन्त्र (कैमरा) से उन रूपों का चित्रग्रहण किया जा सकता है। सर्वथा तद्भाव-भावित मन-रहित तथा सर्वथा विपरीतभाव-भावित मन-युक्त व्यक्तियों द्वारा भी उस देश, उस काल में सर्वथा अनुपलब्ध होनेवाले ईश्वरप्रदत्त पदार्थों का उपभोग भी किया जा सकता है। सत्यता की परीक्षा के अन्य सभी लौकिक उपायों से उन पदार्थों का तथा रूपों का परीक्षण भी किया जा सकता है।

इस प्रकार उन पदार्थों को तथा अनेक विविध रूपों को और उनके दर्शनों को आकार की दृष्टि से भी सत्य ही मानना चाहिए, मनःकल्पित या मिथ्या कहने का दुस्साहस नहीं करना चाहिए।

तत्त्व की दृष्टि से उन रूपों के मिथ्या या मनःकल्पित होने का तो कोई कारण ही नहीं, क्योंकि वही एक ईश्वर-तत्त्व भक्तों की इच्छा-अनुसार कृपा करके विविध रूपों में प्रकट हुआ है, इसलिए उन सभी रूपों में ईश्वर-तत्त्व विद्यमान है ही। जैसे एक ही स्वर्ण-तत्त्व के बने विविध भगवद्विग्रह लोकदृष्टि से आकारतः तथा तत्त्वतः सत्य ही हैं, वैसे ही भक्तों द्वारा दृष्ट भगवान् के विविध रूप भी आकारतः तथा तत्त्वतः सत्य ही हैं। भक्ति-सिद्धान्त में ईश्वर सर्वथा निष्क्रिय शक्तिहीन मान्य न होने के कारण नाना रूपों में प्रकट होने में भी कोई बाधा नहीं हो सकती।

पातञ्जलयोग का मण्डन—'योग-साधना में प्रत्याहार तथा धारणा में जिन वस्तुओं को आलम्बन बनाया जाता है, उन्हींका ध्यान में स्पष्ट तथा सविकल्प-समाधि में अतिस्पष्ट अनुभव होता है' यद्यपि यह बात सत्य है, तथापि भक्तियोग द्वारा नाना रूपों में भगवद्दर्शनों की सत्यता की तरह पातञ्जलयोग द्वारा अनुभूत तत्त्वों की सत्यता का समर्थन किया ही जा सकता है। यद्यपि यहाँ बाह्य पदार्थ न होने के कारण बाह्य परीक्षा के साधनों द्वारा परीक्षण करके उन्हें सत्य नहीं सिद्ध किया जा सकता। तथापि योग-साधना द्वारा होनेवाली मन की एकाग्रता का तथा प्राणायाम द्वारा प्राण की ऊर्ध्वगति से शरीर के विभिन्न अङ्गों में होनेवाली विशेषताओं का आधुनिक वैज्ञानिक परिष्कृत यन्त्रों द्वारा भी समर्थन होता है। एवं प्राणायाम द्वारा गले को फुलाकर फाँसी के फन्दे में लटक जाना, छाती को फुलाकर ५-१० मन वजनवाले पाषाण को छाती

पर रख लेना आदि चमत्कारों को आँखों से देखकर योग-साधना की सत्यता का तथा योग-साधना से अनुभूत होनेवाले तत्त्वों की सत्यता का अनुमान सहज ही हो सकता है।

यद्यपि निर्विकल्प-समाधि में विशेषरूप से किसी वस्तु का ज्ञान नहीं होता, तथापि सभी की स्थिति वहाँ एक-सी ही होती है और एक ही तत्त्व का सामान्यरूप में ज्ञान सभी को होता है। उत्थान-काल में संस्कार-भेद से केवल कथन में ही भेद होता है, इससे तत्त्व में या उसके सामान्यज्ञान में भेद नहीं हो जाता, अतः योग-साधना द्वारा अनुभूत तत्त्व भी यथार्थ ही हैं।

ज्ञानयोग का मण्डन—'ज्ञान के अनुसार ही इच्छा (संकल्प) का उदय होता है, संकल्प के अनुसार ही कर्म होते हैं' इस दृष्टि-कोण से जिन्होंने विचार किया है, उन्होंने ज्ञानयोग को मुख्यता प्रदान करके कर्म तथा भक्ति को सहकारी साधनरूप में गौण स्थान दिया है।

आत्मवाद तथा परमात्मवाद के प्रकरणों में समन्वय प्रदर्शन करके यह दिखाया जा चुका है कि आत्मा तथा परमात्मा के स्वरूप में विरोध की प्रतीति वस्तुस्थिति पर दृष्टि रखकर विचार न करने के कारण ही होती है, वस्तुतः विरोध है ही नहीं। अतः उनके ज्ञानों में भी विरोध नहीं हो सकता, केवल कथन करने के दृष्टि-कोण में ही भेद या विरोध है। इसलिए ज्ञानयोग और उससे अनुभूत तत्त्व भी यथार्थ ही हैं, अतः ज्ञानयोग को मोक्ष का साधन मानना सर्वथा युक्तियुक्त है।

मोक्ष-स्वरूप-मण्डन – जिस प्रकार 'असम्यक् ज्ञान, असम्यक् भाव, असम्यक् कर्म दुःख के हेतु हैं' यह सबके अनुभव से सिद्ध है, उसी प्रकार दुःख से सर्वथा मुक्त होने की तथा सर्वदा सुख-प्राप्ति की इच्छा का होना भी सबके अनुभव से सिद्ध है, इसी इच्छा का शास्त्रीय पारिभाषिक नाम मोक्ष है। इस मोक्ष की इच्छा मनुष्य मात्र को ही नहीं किन्तु प्राणिमात्र को होती है, अतः 'मोक्ष-प्राप्ति ही जीवन का लक्ष्य है' यह बात शास्त्रकारों द्वारा बलात् लादी नहीं गयी।

बिना विचार किये मनुष्य को सामान्यतः ऐसा प्रतीत होता है कि मेरा लक्ष्य कञ्चन, कामिनी, पद, प्रतिष्ठा आदि की प्राप्ति करना ही है। शास्त्रकार यहाँ यह प्रश्न उपस्थित करते हैं, कि कञ्चन आदि की प्राप्ति किसलिए करना चाहते हैं? इसका उत्तर अन्ततोगत्वा सभी यही देते हैं कि दुःखों की निवृत्ति तथा सुख की प्राप्ति के लिए। इस उत्तर को सुनकर शास्त्रकार उन्हें समझाते हैं कि जो किसीका साधन होता है वह अन्तिम लक्ष्य (साध्य) नहीं होता। इसलिए आपके उत्तर से ही यह सिद्ध हो जाता है कि आप दुःख-निवृत्ति तथा सुख-प्राप्तिरूप मोक्ष की प्राप्ति को ही जीवन का अन्तिम लक्ष्य (साध्य) मानते हैं। दुःख-निवृत्ति तथा सुख-प्राप्ति किसलिए चाहते हैं? ऐसा प्रश्न करने पर सभी यही कहते हैं कि दुःख-निवृत्ति तथा सुख-प्राप्ति किसी अन्य साध्य-प्राप्ति के लिए नहीं की जाती। इस उत्तर से अतिस्पष्ट हो जाता है कि दुःख-निवृत्ति तथा सुख-प्राप्तिरूप मोक्ष ही अन्तिम साध्य है। सभी शास्त्रों ने इस मोक्ष को ही एक स्वर से साध्य कहा है।

उक्त विवेचन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि मोक्ष के स्वरूप में तथा उसकी अन्तिम साध्यता में शास्त्रों का या मनुष्यों का कोई मतभेद नहीं। वैष्णवों ने वैकुण्ठलोक की प्राप्ति को तथा जैनियों ने सिद्धशिलारोहण आदि को जो कहीं मोक्ष कहा है, वह भी उक्त मुख्य मोक्ष की प्राप्ति के उद्देश्य से ही गौणरूप से कहा है, इस पर ध्यान न देने से ही मोक्ष-स्वरूप के विषय में विवाद मालूम होता है। यद्यपि कुछ शास्त्रों ने केवल दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति को ही मोक्ष माना है और कुछ शास्त्रों ने दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति के साथ आत्यन्तिक सुख की प्राप्ति को भी मोक्ष में स्वीकार किया है, इस प्रकार विवाद भी है। तथापि इसमें नाममात्र का ही विवाद है वस्तुस्थिति से विवाद है नहीं, यह बात मोक्ष-स्वरूप का समन्वय प्रदर्शन करते हुए बतायेंगे।

साधन-साध्य-समन्वय

साधन-समन्वय—'असम्यक् ज्ञान, असम्यक् भाव, असम्यक् कर्म, ये तीनों ही दुःख के हेतु हैं' यह सबके अनुभव से सिद्ध है। ऐसी दशा में सम्यक् ज्ञानरूप ज्ञानयोग, सम्यक् भावरूप भक्तियोग, सम्यक् कर्मरूप कर्मयोग, ये तीनों ही दुःख-निवृत्ति के साधन हैं, ऐसा सभी दर्शनकारों ने न्याययुक्त होने के कारण स्वीकार किया है। 'इन तीनों में कौन मुख्य है, कौन गौण है' इस विचार में

दृष्टि-कोण के भेद से तथा अधिकारियों की श्रद्धा-रुचि-योग्यता के भेद से शास्त्रकारों ने किसी एक को मुख्यता, अन्य दो को गौणता प्रदान करके ही यह कहा है कि ज्ञानयोग या भक्तियोग या कर्मयोग ही मोक्ष का साधन है।

सभी प्रकार के असम्यक् ज्ञानों की सूक्ष्मदृष्टि से पूर्ण गवेषणा करके शास्त्रकारों ने देखा कि इन असम्यक् ज्ञानों का मूलकारण शरीर आदि अनात्मपदार्थों में आत्मभाव हो जाना ही है। इसी प्रकार सभी असम्यक् भावों का मूलकारण सकामतायुक्त भगवद्-विमुखता ही है। एवं असम्यक् कर्मों का मूलकारण सकाम तथा निषिद्ध कर्मों का आचरण एवं निष्काम कर्मों का अनाचरण ही है। अतः शास्त्रकारों ने शरीर आदि अनात्मपदार्थों से पृथक् आत्मज्ञानरूप ज्ञानयोग को तथा निष्कामतायुक्त भगवत्-सम्मुखतारूप भक्तियोग को और सकाम तथा निषिद्ध कर्मों के त्यागपूर्वक निष्काम कर्मों के आचरणरूप कर्मयोग को मोक्ष का साधन घोषित किया।

प्रत्येक मनुष्य में विचार (ज्ञान) शक्ति, भावशक्ति, क्रिया-शक्ति ये तीनों ही रहती हैं, इस दृष्टि से भी ज्ञानयोग, भक्तियोग, कर्मयोग, ये तीन ही साधनाएँ हो सकती हैं। किसी मनुष्य में किसी एक शक्ति की प्रधानता होती है, अन्य दो शक्तियों की न्यूनता होती है, इस अधिकारी-भेद के कारण भी किसी एक साधन को ही मोक्ष का मुख्य साधन बताया गया है। इन सब विवेचनों से स्पष्ट हो जाता है कि साध्य तथा साधनों का निरूपण

अनुभवमूलक युक्तिपूर्वक किया गया है, बलात् लादा नहीं गया। सभी को तीनों साधन मान्य होने के कारण समन्वय तो स्पष्ट है ही, गौण-मुख्यभाव से किस प्रकार तीनों को सभी स्वीकार करते हैं, केवल इतना ही दिखाया जाता है।—

ज्ञानयोगवादियों ने अपने दृष्टि-कोण से शरीर आदि में आत्म-भावरूप असम्यक् ज्ञान (अज्ञान) को दुःखरूप बन्धन का मुख्य कारण माना है, इसलिए उन्होंने शरीर आदि अनात्मपदार्थों से सर्वथा विविक्त आत्मज्ञानरूप ज्ञानयोग को मोक्ष का मुख्य साधन माना है, जो कि उनके दृष्टि-कोण से देखें तो युक्तियुक्त ही है। मल दोष के निवर्तक रूप में कर्मयोग को तथा विक्षेप दोष के निवारक रूप में भक्तियोग को स्वीकार करना भी परम आवश्यक मानते हैं, कारण कि मल-विक्षेप दोषों की निवृत्ति हुए बिना अर्थात् साधनचतुष्टयसम्पन्न हुए बिना ज्ञान का होना ही असंभव है। इस प्रकार ज्ञानयोग को मुख्यरूप से तथा भक्तियोग और कर्मयोग को गौणरूप से स्वीकार करते हैं।

भक्तियोगवादियों ने अपने दृष्टि-कोण से सकामतायुक्त भगवद्-विमुखता को ही बन्धन का मुख्य कारण माना है, अतः उन्होंने निष्कामतायुक्त भगवत्-सम्मुखतारूप भक्तियोग को ही मोक्ष का मुख्य साधन माना है। शरीर आदि अनात्मपदार्थों से व्यतिरिक्त आत्मज्ञानरूप ज्ञानयोग के बिना शरीर आदि में आत्मभाव नष्ट नहीं हो सकता, शरीर आदि में आत्मभाव नष्ट हुए बिना स्वार्थ-भाव (सकामता) का विनाश होकर विशुद्ध भक्ति का उदय

नहीं हो सकता। अतः इनके लिए ज्ञानयोग को तथा चित्तशोधक-रूप से कर्मयोग को स्वीकार करना भी परम आवश्यक मानते हैं। इस प्रकार भक्तियोग को मुख्यरूप से तथा ज्ञानयोग और कर्मयोग को गौणरूप से मोक्ष का साधन माना है। उनके दृष्टि-कोण से देखें तो ऐसा मानना युक्तियुक्त ही है।

कर्मयोगवादियों ने अपने दृष्टि-कोण से सकाम तथा निषिद्ध कर्मों के आचरण को ही बन्धन का मुख्य कारण माना है, इसलिए इनका त्याग करके निष्काम कर्म-आचरणरूप कर्मयोग को ही मोक्ष का मुख्य साधन माना है, उनके दृष्टि-कोण से देखें तो यह सर्वथा युक्त ही है। शरीर आदि अनात्मपदार्थों से व्यतिरिक्त आत्मज्ञानरूप ज्ञानयोग के बिना अलौकिक कर्मों में प्रवृत्ति संभव नहीं, इसलिए ज्ञानयोग को तथा निष्कामता या भगवद्-अर्पणात्मक भावशुद्धिरूप भक्तियोग को स्वीकार करते ही हैं। इस प्रकार कर्मयोग को मुख्यरूप से तथा ज्ञानयोग और भक्तियोग को गौण-रूप से मोक्ष का साधन मानते हैं। इस प्रकार साधनों का समन्वय दिखाया गया।

साध्य (मोक्ष)-समन्वय—'दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति ही मोक्ष है' अथवा 'दुःख की आत्यन्तिक निवृत्तिपूर्वक परमानन्द की प्राप्ति मोक्ष है' ये दो ही विवाद मोक्ष के बारे में मुख्य हैं। विचार करके देखा जाय तो दुःख-निवृत्ति तथा सुख-प्राप्ति ये दोनों शब्द पर्यायवाची होने से एक ही तत्त्व का कथन करते हैं। लोक में देखा जाता है कि दुःख-निवृत्ति होने पर लोग कहते हैं कि अब सुख

प्राप्त हुआ, एवं सुख प्राप्त होने पर कहते हैं कि अब दुःख निवृत्त हो गया, इस प्रकार एक अर्थ में ही दोनों शब्दों का प्रयोग करते हैं। कुछ विद्वानों ने इन दोनों में भेद प्रतिपादन करने का प्रयास किया है, उसे स्वीकार करके भी विचार करें तो दुःख-निवृत्ति और सुख प्राप्ति ये दोनों एक मुद्रा के दो पार्श्वों की तरह साथ-साथ रहनेवाले ही सिद्ध होते हैं। इस समन्वयात्मक दृष्टि से सभी शास्त्रों में मोक्ष की एकरूपता ही है, विभिन्नता नहीं।

'आत्मा की स्वाभाविक स्वरूप में स्थिति मोक्ष है' इस परिभाषा के अनुसार भी सभी शास्त्रों में मोक्ष का स्वरूप एकरूप सिद्ध हो सकने के कारण समन्वय हो सकता है। आत्मा नित्य सुखरूप है या नित्यसुखगुणयुक्त है या दुःखाभावरूप है, इन तीन पक्षों में ही सभी शास्त्रों का समावेश हो जाता है। सुख तथा दुःखाभाव ऊपर कथित रीति से एकार्थक या एक मुद्रा के दो पार्श्वों की भाँति साथ-साथ रहनेवाले होने के कारण समन्वय हो ही जाता है। नित्य आत्मा में नित्यसुखरूप गुण को स्वीकार करना, तथा आत्मा को सुखरूप स्वीकार करना, इन दोनों पक्षों की वस्तुस्थिति में कोई अन्तर नहीं, क्योंकि दोनों पक्षों में आत्मस्थितिपर्यन्त सुख का होना स्वीकार है, केवल सुख को आत्मा का रूप कहें या गुण कहें, इस प्रकार नाम के कथन में ही अन्तर है।

अन्तःकरण आदि विशेषज्ञान के साधनों का मोक्षदशा में अभाव होने के कारण विशेषरूप में सुख की अनुभूति नहीं हो

सकती, इसलिए विशेषरूप में सुखानुभूति के इच्छुक मनुष्यों की मोक्ष-प्राप्ति में प्रवृत्ति नहीं हो सकेगी ? इस शङ्का का समाधान यह है कि अन्तःकरण के न होने के कारण निद्रा में भी विशेषरूप से सुखानुभूति नहीं होती, तो भी निद्रा-प्राप्ति के लिए जैसे मनुष्य की प्रवृत्ति होती है, वैसे ही मोक्ष-प्राप्ति के लिए भी प्रवृत्ति होने में कोई बाधा नहीं हो सकती। यही समाधान दुःखाभाव की भी विशेषरूप में अनुभूति न होने में समझ लेना चाहिए। इस प्रकार सभी पक्षों में सुख या दुःखाभाव की विशेषरूप में अनुभूति का न होना समान ही है।

शाङ्कर वेदान्त के कुछ विद्वानों का कहना है कि जिनके मत में आत्मा नित्यज्ञानरूप नहीं, उन्हींके मत में सुखानुभूति न होने का दोष होगा। वेदान्त-मत में तो आत्मा नित्यसुखरूप की तरह नित्यज्ञानरूप भी मान्य है, अतः स्वरूपभूत नित्यज्ञान से स्वरूपभूत नित्यसुख की अनुभूति होती है। उनका यह कथन शाङ्करभाष्य-विरुद्ध होने से ठीक नहीं। तथाहि—**एकत्व-विरोधाच्च, परं चेत् ब्रह्म आनन्दात्मकमात्मानं नित्यविज्ञानत्वात् नित्यमेव विजानीयात्, तन्न।····मुक्त आनन्दात्मकमात्मानं वेदयते इत्येतदनर्थकं वाक्यम्।····तस्मात् विज्ञानमानन्दमिति स्वरूपान्वाख्यानपरैव श्रुतिः, नात्मानन्दसंवेद्यत्वार्था** (बृह० ३।९।२८)। इन भाष्य-पंक्तियों का क्रमशः यह अर्थ है—'एकत्व से विरोध होने के कारण, अर्थात् एक आत्मरूप सुख तथा ज्ञान में वेद्य-वेदक भाव नहीं हो सकता, इसलिए परब्रह्म आनन्दरूप अपनी आत्मा

को नित्यविज्ञानरूप होने के कारण नित्य ही जानता है, यह कथन ठीक नहीं।""मुक्त आत्मा आनन्दरूप अपने स्वरूप को जानता है, यह वाक्य निरर्थक है।"'इसलिए 'विज्ञानमानन्दम्' यह श्रुति ब्रह्म के स्वरूप का कथन करनेवाली ही है, आत्मानन्द का संवेद्यत्व बतलानेवाली नहीं।

उक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि मोक्ष का स्वरूप चाहे दुःख की आत्यन्तिक निवृत्तिरूप हो, या दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति के साथ परमानन्द की प्राप्तिरूप हो, अथवा आत्मा की स्वाभाविक स्वरूप में स्थितिरूप हो, सभी पक्षों में समन्वय हो जाता है।

शास्त्रीय कर्तव्य-विचार—तीनों खण्डों में किये गये विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि सभी शास्त्रों में आत्मा, परमात्मा, साधन, साध्य का जो प्रतिपादन है, उनमें आपाततः ही विरोध प्रतीत होता है, वस्तुस्थिति पर दृष्टि रखकर विचार करें तो समन्वय ही दृष्टिगोचर होता है। अतः शास्त्रप्रतिपादित साध्य (मोक्ष) को लक्ष्य बनाकर शास्त्रनिरूपित साधनों का अपने अधिकार के अनुसार आलम्बन लेकर जीवन का सञ्चालन करना ही बुद्धिमानों का कर्तव्य है। साधु शान्तिनाथ या भौतिकवादियों द्वारा कथित–'यथासंभव दुःख-निवारणपूर्वक ऐहिक सुख-भोग तथा देश-उपकार करना रूप कर्तव्य' तो शास्त्रीय कर्तव्य का अङ्गरूप होने के कारण आनुषङ्गिक रूप से ही सिद्ध हो जाता है।

क्षुधा-तृषा से व्यथित, रोग-पीड़ा से पीड़ित, लोक-अपमानित,

परिवार-कलहग्रसित, शत्रु के त्रास से त्रसित मानव कभी भी शास्त्रीय साधनों को सफलतापूर्वक नहीं कर सकता। यही कारण है कि शास्त्रकारों ने इनके निवारण के लिए पाकशास्त्र, आयुर्वेद, शिष्टाचार, माता-पिता-पुत्र-पत्नी का धर्म, राजनीति-धनुर्वेद आदि विषयों का अपने शास्त्रों में साङ्गोपाङ्ग विवेचन किया है, इनकी जरा भी उपेक्षा नहीं की। इन सबका संग्रह करके संक्षेप में धर्म का लक्षण कहा—'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः' अभ्युदय अर्थात् लौकिक उन्नति, निःश्रेयस अर्थात् अलौकिक (मोक्ष) की सिद्धि जिससे हो वह धर्म है। इतना होते हुए भी मोक्ष की प्राप्ति को ही परमकर्त्तव्यरूप से स्वीकार करने के कारण भौतिकवादियों को यह भ्रम होता है कि शास्त्रकारों ने लौकिक उन्नति की सर्वथा अवहेलना की है। मेरा पूरा विश्वास है कि वे लोग यदि कोई छोटा-सा पुराण भी पूरा पढ़कर देखें तो उनका यह भ्रम अवश्य दूर हो जायगा, क्योंकि उसमें उनको उक्त सभी विषय मिलेंगे।

'अन्त तक विचार-सह न होने के कारण तथा वादियों के एकमत न होने के कारण आत्मा-परमात्मा की प्राप्ति को लक्ष्य बनाकर कर्तव्य का निर्णय करना ठीक नहीं' —ऐसी घोषणा करके 'देश-हित को लक्ष्य बनाकर कर्तव्य करना चाहिए'—ऐसा निर्णय देना तो स्व-वचन विरुद्ध होने से विचारकों द्वारा उपहास कराना है। कारण यह है कि देश की सीमा परिवर्तनशील है, देश-हित की रूप-रेखा तथा उसके उपायों में भी सभी देश-हितकारियों का एक मत नहीं। ऐसी दशा में देश-हित की दृष्टि से किये गये कर्तव्य-

निर्णय को अन्त तक विचार-सह तथा सर्वसम्मत कैसे कहा जा सकता है ? क्या यह सबको प्रत्यक्ष नहीं, कि जो सिन्ध प्रान्त कुछ वर्ष पूर्व भारतवर्ष में था, वही आज पाकिस्तान के रूप में परिवर्तित हो गया और एक-दूसरे के शत्रु बनकर एक-दूसरे का विनाश करने का प्रयास करते हैं। एवं देश-हित चाहनेवाली कांग्रेस, जनसंघ आदि अनेक संस्थाएँ देश-हित की रूप-रेखा में तथा उसके उपायों में एकमत न होने के कारण ही आपस में संघर्ष करके देश-हित की जगह देश-अहित करने पर ही तत्पर हो जाती हैं।

जो लोग व्यवहार में नित्य-अनुभूत अतितुच्छ कार्यों के बारे में ५-१० कोटि (श्रेणी) तक भी बुद्धिपूर्वक सम्यक् निर्णय नहीं दे पाते, एकमत नहीं हो पाते, तो भी व्यवहार में उनका प्रत्यक्ष फल देखकर तिरस्कार करने का भी साहस नहीं करते। वे ही लोग बुद्धि से परे अचिन्त्य आत्मा, परमात्मा आदि तत्त्वों का अन्त तक बुद्धि से निर्णय न होने मात्र से या वादियों के एकमत न होने के कारण अति कटु शब्दों से तिरस्कार करने का दुस्साहस करते हैं। इससे अधिक आश्चर्य और क्या हो सकता है ? प्राप्त हुए ऐहिक उत्कृष्ट भोगों का परित्याग करके घोर-तप-निरत साधकों द्वारा अनुभूत साध्यों को केवल मन की कल्पना कहना अति दुस्साहस करना है।

तात्पर्य यह है कि जैसे भोजन करने में रसना द्वारा मिष्टान्न का जो स्वाद आता है, उसका वजन, वर्ण, आकार आदि का

तथा अन्य मिष्टान्न और नमकीन पदार्थों से स्वाद-भेद का बुद्धि द्वारा अन्त तक निरूपण नहीं हो पाता, तो भी भोजन का परित्याग नहीं किया जाता। एवं दो बूंद रज-वीर्य से विचित्र शरीर-मन-बुद्धि-रङ्ग-रूप-आकारों का उत्पन्न होना तथा अतिसूक्ष्म वटबीज से अतिविशाल वटवृक्ष उत्पन्न होना आदि अनेक बातों का बुद्धि द्वारा अन्त तक निर्णय नहीं हो पाता, तो भी गर्भाधान, वृक्षारोपण आदि कार्यों का करना बन्द नहीं किया जाता, क्योंकि इनका फल प्रत्यक्ष अनुभव में आता है। वैसे ही अचिन्त्य आत्म-परमात्म-तत्त्वों का बुद्धि द्वारा अन्त तक निर्णय न होने पर भी साधकों को उनका अनुभव होता है, इसलिए उनका त्याग या तिरस्कार नहीं किया जा सकता।

'प्रतिकूल परिस्थितियों का प्रभाव शरीर पर ही पड़ता है, आत्मा पर नहीं पड़ता'—इस प्रबोध द्वारा मन को सबल बनाने की जो बात कही गयी है, वह भी तभी सम्भव है जब कि 'शरीर से पृथक् आत्मतत्त्व है' ऐसा निर्णय विचार-सह रूप में मान्य हो। यदि 'विरोधी भावनाओं द्वारा मन को सबल बनाया जा सकता है' ऐसा मान्य है तो 'प्रारब्ध ही ऐसा था' 'भगवान् रक्षा करेंगे' 'कर्म में ही मेरा अधिकार है फल में नहीं' 'गुणों में ही गुणों का बर्ताव हो रहा है' 'सब माया मात्र है' इत्यादि विरोधी भावनाओं द्वारा मन को सबल क्यों नहीं बनाया जा सकता। ये भावनाएँ तो देश-हित आदि अन्य भावनाओं की अपेक्षा अधिक उत्कृष्ट तथा विचार-सह हैं।

यह बात स्पष्ट देखने में आती है कि ऐहिक सुख तथा देश-हित के लक्ष्य से कर्तव्य-पालन करनेवाले अतिबुद्धिमान् मनुष्य भी तभी तक मन को सबल बनाये रख पाते हैं, जब तक कठिन परिस्थितियों, प्रबल प्रलोभनों, तात्कालिक महाभयों का अभाव होता है, इसके विपरीत होने पर तो प्रायः उनका मन भी कर्तव्य-च्युत हो जाता है। आत्मा, परमात्मा, मोक्ष की प्राप्ति को लक्ष्य मानकर कर्तव्य पालन करनेवाले सामान्यबुद्धिवाले मनुष्य तो उक्त कठिन परिस्थितियों आदि में भी स्व-लक्ष्य-प्राप्ति के विनाश से भयभीत रहने के कारण अपेक्षाकृत अधिक कर्तव्यपरायण रहते हैं। एवं ऊपर कथित प्रारब्ध आदि उत्कृष्ट तथा विचार-सह दृष्टियों से भावित प्रबल मन द्वारा अपने एकमात्र जीवन-आधार प्राणप्रिय पुत्र के प्राण लेनेवाले शत्रु के साथ भी द्वेष न करके समय पर उसका हित ही करते हैं। मोक्ष की प्राप्ति में बाधक समझकर प्राप्त उत्कृष्ट भोगों का त्याग करते हैं तथा यथासंभव दूसरों की सेवा ही करते हैं अपनी सेवा नहीं कराते। इससे अर्थ का सन्तुलन, विषमता का निवारण, पारिवारिक-सामाजिक कलह का शमन होकर सहज ही देश का हित होता है। स्व-लक्ष्य मोक्ष में बाधक मानकर भोगों का त्याग करने के कारण उस अभिमान का उदय भी नहीं होता जो अभिमान कालान्तर में सम्पूर्ण सद्गुणों का नाशक, दुर्गुणों का सम्पादक एवं देश-व्यवस्था का भञ्जक होता है। यह सब लाभ ऐहिक सुख-भोग को लक्ष्य मानकर चलने में कदापि सम्भव नहीं। संगठन द्वारा राजनीति

की अनुकूलता-सम्पादन में एक बार नहीं किन्तु अनेकों बार असफलता देखने में आती है, इसीलिए अनेकों नेता उसमें एकमत नहीं होते और न उसे विचार-सह ही मानते हैं।

अन्त तक विचार-सह न होने के कारण तथा एकमत न होने के कारण शास्त्रप्रतिपादित सिद्धान्तों का साधु शान्तिनाथ ने अति-तिरस्कार किया है, शास्त्रकारों को पाखण्डी धूर्त तक कहने का जघन्य पाप किया है। वही साधु शान्तिनाथ दो-चार कोटि तक भी विचार-सह न होनेवाले तथा एकमत न होनेवाले ऐहिक सुख तथा देश-उपकार का आदर करते हैं, इसे बुद्धिमत्ता कहें कि अतिबुद्धिमत्ता कहें ? इसका निर्णय करना तो विद्वानों के लिए भी कठिन है।

उक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि साधु शान्तिनाथ-कथित तथा वर्तमान के सभी भौतिकवादियों को अभिमत ऐहिक सुख तथा देश-हित को आनुषङ्गिक रूप में ही जो सम्पादन कर देते हैं, ऐसे शास्त्र-प्रतिपादित मोक्षप्रद साधनों का आलम्बन लेकर जीवन का संचालन करना ही बुद्धिमानों का परम कर्तव्य है। विचारप्रधान दर्शनों की तो बात ही क्या, विचारप्रधानतारहित सभी धार्मिक पंथों से भी ऐहिक सुख तथा देश-हित सहज ही होता है, क्योंकि सभी धार्मिक पंथों में भोगपदार्थों के संग्रह का त्याग, दूसरों की सेवा करना, सत्य बोलना, परस्त्री को माता-बहन की दृष्टि से देखना आदि साधनों का विधान पाया जाता है। इन

सबका अभाव ही ऐहिक सुख तथा देश-हित का विनाशक होता है। अतः इस दृष्टि से सभी धार्मिक पंथ आचरणीय हैं।

साधन-साध्य-समन्वय का मुमुक्षु के लिए उपयोग

मुमुक्षु जब साधन-साध्य का समन्वय हृदयङ्गम कर लेता है, तब वह दूसरे के साधन-साध्य का भी हृदय से आदर करता है और अपने साधन-साध्य में दृढ़ निष्ठा से लगा रहता है। अन्यथा विचारों की संकीर्णता के कारण अन्य के साधन-साध्यों में द्वेष या उपेक्षा का भाव होता है। अन्य के द्वारा स्व-साधन-साध्य का खण्डन कर दिया जाने पर उनसे द्वेष हो जाता है या स्व-साधन-साध्य में निष्ठा का अभाव हो जाता है। अथवा अनेक प्रकार के परस्पर विरुद्ध साधन-साध्यों का श्रवण करके संशयग्रस्त हो जाता है, जिसके कारण अन्त में सभी साधन-साध्यों में अश्रद्धा हो जाने के कारण पथभ्रष्ट हो जाता है। साधन-साध्य का समन्वय विचार द्वारा हृदयङ्गम हो जाने पर ऊपर कथित सभी दोष दूर हो जाते हैं।

ग्रन्थ-उपसंहार

सर्व-दर्शन-समन्वय

वास्तविक बात तो यह है कि सभी शास्त्र ऐहिक (इस लोक के) आमुष्मिक (पर लोक के) व्यक्तिगत सुखों का तथा सामाजिक सुख-सुव्यवस्था का आनुषङ्गिक रूप में सम्यक् सम्पादन कराते हैं, और प्राणिमात्र की स्वाभाविक अभिलाषा के विषय मोक्ष का प्रधानरूप में प्रतिपादन करते हैं। इसके लिए आत्मा, जगत-उपादानकारण, जगत-निमित्तकारण, साधन, साध्य आदि अति-आवश्यक विचारणीय तत्त्वों का विचार प्रथम तो सार्वजनीन स्थूल अनुभवों से आरम्भ करते हैं। तत्पश्चात् सूक्ष्म अतिसूक्ष्म गवेषणा द्वारा विभिन्न दृष्टि-कोणों से विचार करते हुए, अन्त में जिस तत्त्व का विभिन्न रूपों में वर्णन करते हैं, वह तत्त्व वस्तु-स्थिति पर दृष्टि रखकर देखने से एक ही है।

किसी तत्त्व पर विचार करने के सत्, असत्, सदसत्, भेद, अभेद, भेदाभेद आदि जितने दृष्टि-कोण हो सकते हैं, उन सभी दृष्टि-कोणों से दर्शनकारों ने विचार किया है। इन विभिन्न दृष्टि-कोणों से विचार करते हुए अन्त में जहाँ से आगे विचार कर सकना मानव-बुद्धि के लिए संभव नहीं था तथा भविष्य में भी संभव नहीं हो सकेगा, ऐसे अन्तिम स्थलों में दर्शनकारों ने

अगत्या या परिशेषन्याय से जो तत्त्व जिस रूप में माना है, प्रतिवादी भी यदि उस दृष्टि-कोण से विचार करेगा तो उसे भी वह तत्त्व उसी रूप में अवश्य ही स्वीकार करना पड़ेगा। सभी दर्शनकार इस रहस्य से भलीभाँति परिचित हैं, तो भी इसकी उपेक्षा करके पर-दर्शन की प्रक्रिया में कार्य-क्रम से नहीं, किन्तु **अगत्या या परिशेषन्याय** से माने हुए तत्त्व में मूलक्रम से शङ्का करके उसका खण्डन किया है। पुनः स्व-दर्शन के तत्त्वों का मूलक्रम से नहीं, किन्तु कार्यक्रम से कथित प्रक्रिया द्वारा ही मण्डन किया है। ऐसा करने में राग-द्वेष कारण नहीं, किन्तु विभिन्न प्रकार के अधिकारियों को उनके अधिकारानुसार साध्य-साधनों में निष्ठा कराना ही एकमात्र कारण है, क्योंकि निष्ठा द्वारा ही साधक का शीघ्र कल्याण होता है। अन्यथा परस्पर विरुद्ध दर्शनों का अध्ययन करके समन्वय का सामर्थ्य न होने के कारण साधक या तो भटक जाते हैं या नास्तिक हो जाते हैं, जैसा कि साधु शान्तिनाथ तथा राहुल सांकृत्यायन के जीवन में घटित हुआ।

सभी तत्त्वज्ञों को एक ही तत्त्व का अनुभव होता है, उनके कथन में भेद तो तत्त्व की अनिर्वचनीयता, बुद्धि तथा वाणी की सीमित-समर्थता, संस्कारों की विचित्रता, अधिकारियों की विभिन्न योग्यता के कारण ही होता है, तत्त्व की अनेकरूपता के कारण नहीं होता। किसी एक दर्शन के आधार पर तत्त्व की अनुभूति हो जाने पर उसी दर्शन की सत्यता का जो आग्रह रहता है, उसका कारण यह है कि अन्य दर्शनों का निष्पक्ष भाव से स्व-दर्शन की

भांति अध्ययन, मनन और परिशीलन नहीं किया जाता। स्व-दर्शन की भांति पर-दर्शनों का भी अध्ययन आदि करने पर उन दर्शनों द्वारा भी उसी तत्त्व का प्रतिपादन देखकर सर्वदर्शनों का समन्वय हो जाता है। और सभी विवाद शान्त हो जाते हैं।

उक्त प्रकार से सर्वदर्शनों का समन्वय हृदयङ्गम कर लेनेवाले महापुरुषों के जीवन में भी एक दर्शन का विशेष कथन या समर्थन देखने में आता है। इसका कारण यह है कि प्रारम्भ में साधक विविध दर्शनों के संस्कारों से शून्य होता है, उस संस्कार-शून्य साधक में गुरुजन उसकी श्रद्धा, योग्यता तथा रुचि का निरीक्षण करके जिस दर्शन के संस्कार का आधान करते हैं, उन संस्कारों का कोई विरोधी संस्कार न होने के कारण तथा दीर्घ-कालपर्यन्त तदनुसार भावना करते रहने के कारण वे संस्कार अतिदृढ़ होकर आत्मभूत हो जाते हैं। इस कारण उन्हींका स्फुरण सहज होता है, इसलिए उसी दर्शन का विशेष कथन करते हैं, तथा उस दर्शन के अधिकारी जिज्ञासु को निष्ठावान् बनाने के लिए उसी दर्शन का विशेष समर्थन भी करते हैं।

अन्तिम निवेदन

गुरुजनों के सत्सङ्ग, दर्शनों का अध्ययन-मनन-परिशीलन, तथा स्वानुभूति से संयोजन करके प्रभु-प्रेरणा से यह दर्शन-समन्वय लिखा गया है, यह समन्वय कहाँ तक ठीक है इसका निर्णय करना तो विद्वानों का ही काम है। मैंने तो अपने विचारों का परिमार्जन करने के लिए परीक्षणार्थ इस समन्वय को विद्वानों के सम्मुख उपस्थित किया है। उनके दिये गये परामर्शों से मैं अवश्य ही अपने विचारों का निष्कपट भाव से परिमार्जन करूँगा, अतः विद्वानों से प्रार्थना है कि वे अपने विचार लिखने की कृपा अवश्य करें। 'जिन विषयों की **अगत्या या परिशेषन्यायरूप** युक्ति से ही सिद्धि संभव है' ऐसा मैंने माना है, उन विषयों की अन्य प्रकार से भी यदि सिद्धि होती हो तो उसे लिखने की कृपा अवश्य करें, क्योंकि **अगत्या या परिशेषन्यायरूप** मुख्य युक्ति के आधार पर ही मैंने सभी दर्शनों का प्रायः समन्वय प्रदर्शन किया है। यदि इस समन्वय में कुछ भी सत्यता होगी तो आशा करता हूँ कि विशिष्ट विद्वानों को समन्वयात्मक विशिष्ट ग्रन्थ लिखने की प्रेरणा अवश्य प्राप्त होगी।

यदि यह समन्वय पूर्ण ठीक हो तो भी मेरा नम्रतापूर्वक यह निवेदन है कि सर्वसाधारण साधकों के पास सभी दर्शनों के विशाल गम्भीर अनेकों ग्रन्थों का अध्ययन, मनन और परिशीलन

करने का न तो समय ही होता है, और न उनको समझने तथा समन्वय करने की शक्ति ही होती है। अतः उन साधकों को तो उनकी श्रद्धा, रुचि तथा योग्यता के अनुसार बताई हुई साधना का, सद्गुरु के वचनों में पूर्ण विश्वास रखकर दृढ़ता के साथ श्रद्धापूर्वक दीर्घकालपर्यंन्त अनुष्ठान करके लक्ष्यरूप मोक्ष को प्राप्त करना चाहिए, अन्यथा भटक जाने की बहुत अधिक संभावना है।

जिन विशिष्ट साधकों को समय, बुद्धि आदि साधन प्राप्त हैं, उन्हें भी प्रथम तो अपनी श्रद्धा, रुचि तथा योग्यता के अनुसार किसी एक दर्शन का अवलम्बन ग्रहण करके मोक्षरूप साध्य प्राप्त कर लेना चाहिए। तदनन्तर यदि जीवन शेष रहे तो सर्वदर्शनों का सम्यक् अध्ययन, मनन और परिशीलन करके समन्वय-ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। अन्यथा यदि सर्वदर्शनों के अध्ययन आदि में ही जीवन-काल पूर्ण हो गया तो मोक्ष-प्राप्ति से वञ्चित रहने के कारण पुनः जन्म ग्रहण करना पड़ेगा।

(तृतीय खण्ड समाप्त)

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवाऽवशिष्यते ॥
त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये ।
गृहाण सम्मुखो भूत्वा प्रसीद पुरुषोत्तम ॥

॥ हरिः ॐ तत्सत् ॥

(ग्रन्थ समाप्त)

लेखक के ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय

१. सर्वदर्शन-समन्वय—साधन का कर्ता आत्मा, साधन-फलदाता ईश्वर, साधन द्वारा त्याज्य जगत, साधनफल मोक्ष तथा साधन, इन सभी के स्वरूपों को जानना साधक के लिए अति-आवश्यक है। इनका निरूपण भिन्न-भिन्न दर्शनों में भिन्न-भिन्न रूप से ही नहीं, किन्तु परस्पर विरुद्ध रूप से भी किया है। उनका कहाँ तक, कैसे समन्वय हो सकता है, यह प्रदर्शन इस ग्रन्थ में किया है। सर्वदर्शनमर्मज्ञ तटस्थ विद्वानों के लिए यह ग्रन्थ विचारणीय तथा समालोचनीय है। यह ग्रन्थ तर्क को प्रधानता देकर लिखा गया है।

२. साधन-विचार—साधन करनेवाले साधकों के जीवन में नाना प्रकार की कठिनाइयाँ आती हैं, नाना प्रकार की शङ्कायें पैदा होती हैं। शास्त्र का ज्ञान रखनेवालों को साधन से सम्बन्धित प्रकरणों एवं वचनों की सङ्गति जानने की भी इच्छा होती है। इन सभी बातों को ध्यान में रखकर 'साधन-विचार' नाम का ग्रन्थ लिखा गया। यह ग्रन्थ साधकों के लिए अति-उपयोगी है। यह ग्रन्थ साधन-अनुष्ठान और शास्त्रवचन दोनों को प्रधानता देकर लिखा गया है।

३. साधक-शङ्का-समाधान—जो लोग शास्त्रों में पूर्ण श्रद्धा रखते हैं, वे लोग जब शास्त्रों का मनोयोग से अध्ययन करते हैं तो उन्हें शास्त्रों में एक विषय पर अनेक प्रकार के वचन मिलते

हैं। इतना ही नहीं किन्तु परस्पर विरुद्ध वचन भी मिलते हैं। तब उनके हृदय में शङ्का का उत्थान तथा समाधान की जिज्ञासा का होना स्वाभाविक है। समाधान के बिना साधन के अनुष्ठान में निष्कम्प प्रवृत्ति न होगी। इसलिए शास्त्रवचन सङ्गतिपूर्वक 'साधक-शङ्का-समाधान' नाम का ग्रन्थ लिखा गया है। यह ग्रन्थ भी साधकों के लिए अति-उपयोगी है। यह ग्रन्थ शास्त्र को प्रधानता देकर लिखा गया है।

४. **वैदिकचर्याविज्ञान**—वैदिक ऋषियों ने मोक्ष के साधन का ही नहीं, किन्तु जीवन के सम्पूर्ण क्रिया-कलापों का विधान इस रीति से किया है कि वे मोक्षसाधन में सहायक हो सकें। अतः दिनचर्या, जीवन चर्या, तथा अन्य विविधचर्याओं का विधान भी शरीरविज्ञान, मनोविज्ञान, परिवारविज्ञान, समाजविज्ञान तथा लोक-परलोकविज्ञान आदि विविधज्ञानों के आधार वैदिकशास्त्र-अनुसार किया है। अतः वैदिकचर्या साधन का प्रथम सोपान है, मूलाधार है। इसकी उपेक्षा करके कोई भी साधक मोक्षसाधन में सफलता नहीं प्राप्त कर सकता। दुर्भाग्यवश वर्तमान में भौतिक विज्ञान से प्रभावित होकर जनसाधारण ही नहीं, किन्तु साधक भी वैदिकचर्या की अवहेलना कर रहे हैं। अतः वैदिकचर्या की उपयोगिता भौतिकविज्ञान की दृष्टि से भी बताना अति-आवश्यक है, यह विचार करके 'वैदिकचर्याविज्ञान नाम' का ग्रन्थ लिखा गया है। यह ग्रन्थ सभी के लिए उपयोगी है।

——